ISSN 2229-6328
भाग - पञ्चत्रिंश, चतुर्थ खण्ड

पावमानी

त्रैमासिकी मूल्याङ्किता वैदिक शोधपत्रिका

तैत्तिरीय ब्राह्मण में विविध विद्याएँ



ISSN 2229-6328

ओ३म्

प्रेरणास्रोत : प. पू. स्व. स्वामी समर्पणानन्द जी महाराज

पावमानी

त्रैमासिकी मूल्याङ्कित (Peer Reviewed) वैदिक शोधपत्रिका

भागः पञ्चत्रिंश चतुर्थ खण्ड (वि. सं. २०७७)

तैत्तिरीय ब्राह्मण में विविध विद्याएँ

प्रकाशक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला, मेरठ- २५०५०१

अक्टू.- दिस. २०२० **मूल्य १००.००**

एक प्रति का मूल्य	...	१०० रु०
वार्षिक सदस्यता शुल्क	...	४०० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क	...	२००० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क (छात्रों हेतु)	...	१५०० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क (संस्था हेतु)	...	५००० रु०
सहयोगी सदस्यता शुल्क	...	५५०० रु०
संरक्षक सदस्यता शुल्क	...	१०००० रु०
परामर्शक सदस्यता शुल्क	...	११००० रु०

आभार

पावमानी के इस अङ्क का सम्पूर्ण व्ययभार आश्रम के प्रति एकनिष्ठ स्व. माता प्रकाशवती जी की प्रेरणा से रस्तौगी प्रकाशन, मेरठ, उ.प्र. ने वहन किया।

• स्वत्वाधिकारी, प्रकाशक, मुद्रक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला,

मेरठ - २५०५०१ (उ.प्र.)

दूरभाष : ८००६७०२५५१

अणुवाक्:

pavamani86@gmail.com

• **पावमानी**- ISSN२२२९-६३२८

भागः पञ्चत्रिंश, चतुर्थ खण्ड

अक्टू.- दिस. २०२०

• प्राप्ति स्थान-

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, मेरठ

• मुद्रक

रस्तौगी प्रकाशन, मेरठ (उ.प्र.)

• प्रेरणास्रोत :

प.पू. स्व. श्री स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती

• प्रधान सम्पादक

स्वामी विवेकानन्द सरस्वती

• सम्पादक

प्रो. सोमदेव शतांशु

०९८३७६४७४२७

डॉ. वाचस्पति मिश्र

०९३१९००२४०२

• **कल्पादितः** १,९७,२९,४९१२२ गते

• **सृष्टि आदितः** १,९६,५८,८५१२२ गते

• **युगाब्द** ५१२२

• **दयानन्दाब्द** १९५

सम्पादकीयम्

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान, गुरुकुल प्रभात आश्रम मेरठ द्वारा प्रकाशित त्रैमासिक शोधपत्रिका 'पावमानी' के विगत कई अंकों में निरन्तर ब्राह्मणग्रन्थ-विषयक लेखों के प्रकाशन का क्रम चल रहा है। इसी अनुक्रम में यह अंक तैत्तिरीय ब्राह्मण में विविध ज्ञान-विज्ञान विषयक लेखों के लिए समर्पित है। कृष्णयजुर्वेदीय शाखा में एकमात्र तैत्तिरीय ब्राह्मण ही अद्यावधि सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध है। यह तीन काण्डों अथवा अष्टकों में विभक्त है। प्रथम दो काण्डों में आठ-आठ अध्याय अथवा प्रपाठक हैं तथा तृतीय काण्ड में १२ अध्याय या प्रपाठक हैं। एक अवान्तर विभाजन अनुवाकों का भी है जिनकी संख्या ३५३ है। तैत्तिरीय ब्राह्मण का प्रवक्ता वैशम्पायन के शिष्य तित्तिरि को माना जाता है जबकि इसके अन्तर्गत सम्मिलित काठक भाग (३.१०-१२) के प्रवचन का श्रेय भट्टभास्कर के अनुसार काठक को है।

यह सर्वविदित है कि ब्राह्मणग्रन्थ वेदों के गूढ रहस्यों को तथा लौकिक आचार-विचार व यागादि व्यवहार कार्यों को बडी रोचकता के साथ प्रकट करने वाले ग्रन्थ हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण के प्रथम काण्ड में ही अग्न्याधान, गवामयन, वाजपेय, नक्षत्रेष्टि तथा राजसूय यागों का वर्णन है। वर्त्तमान समय में जहाँ लोग इन यागों के नाम से भी परिचित नहीं

होते वहीं पावमानी के प्रस्तुत अंक में भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों के लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों ने अग्निहोत्रादि सामान्य यज्ञों से लेकर सोमयागादि विशेष यागों का कर्मकाण्डीय स्वरूप प्रतिपादित कर उनके लौकिक-अलौकिक लाभों को प्रदर्शित किया है। पशुयाग एवं पुरुषमेध याग-विषयक जो वेदविरुद्ध भ्रान्त-धारणा लोगों के मध्य विद्यमान है कि प्राचीन काल में यज्ञों में पशुओं एवं मनुष्यों की बलि दी जाती थी, उसको विद्वानों ने वेदानुकूलता के साथ ब्राह्मणग्रन्थ के तत्तत् प्रसंगों का पूर्वापर विवेचन कर तर्कपूर्वक यह सिद्ध किया है कि पशुयागों में बलि के लिए आहरित पशु प्रतीकात्मक है। वहाँ जीवहिंसा मान्य नहीं हो सकती। क्योंकि एक तरफ जब यजमान यज्ञ करते हुए परमात्मा से अपने लिए अन्न प्रजा पशु आदि की वृद्धि की प्रार्थना कर रहा है तो वही यजमान पशु मारकर कैसे अपने पशुधन की वृद्धि प्राप्त कर सकता है? इसी प्रकार पुरुषमेध याग के नामश्रवण से प्रतीत होता है कि इस याग में पुरुष को मारकर उसके अङ्गों की बलि दी जाती होगी, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में १९८ प्रकार के विशिष्ट पुरुषों का उल्लेख है जिनका विधिवत् विभिन्न देवों के सम्मुख उपाकरण करके उनका उत्सर्जन (जीवितरूप में ही परित्याग) हो जाता है न कि उनके अङ्गों को काटकर बलि-स्वरूप अग्नि में प्रक्षेपात्मक होम होता है । यहाँ पुरुषों का नारायण के रूप में ध्यान किया जाता है और ध्यान के समय पुरुष सूक्त के मन्त्रों का पाठ किया जाता है। पशुयाग विषयक विस्तृत जानकारी के लिए सुधी पाठक पूज्य स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती कृत अद्भुत कुमार सम्भव नामक लेख पढ़ सकते हैं।

ब्राह्मणग्रन्थों की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता है उनमें आख्यानों का समावेश। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी अति रोचक आख्यानों के द्वारा बहुत

महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। यथा तृतीय काण्ड में महर्षि भरद्वाज से सम्बद्ध आख्यान में वेदों के आनन्त्य का प्रतिपादन है **'अनन्ता वै वेदाः' (३.१०.११.३)**। नचिकेता के आख्यान के साथ प्रह्लाद और अगस्त्य विषयक आख्यायिकाएं यहाँ उल्लिखित हैं। सीता सावित्री की प्रणय आख्यायिकाएँ, उषस् के द्वारा प्रिय की प्राप्ति का आख्यान हो अथवा सृष्टि, यज्ञ और नक्षत्र या देवविषयक आख्यान, सभी विषयों पर विद्वानों ने अपनी अनुसन्धानात्मक दृष्टि प्रस्तुत कर समाजोपयोगी व लोक-हितकारी निष्कर्ष निकाले हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण के दूसरे काण्ड में वर्णित सृष्टिप्रक्रिया को भी विद्वानों ने अपने लेख में अनुसन्धान का विषय बनाया है तथा एतद्विषयक वर्णनों में ऋग्वेदीय नासदीय सूक्त का प्रभाव स्वीकार किया है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण मनुष्यों को देवों के समान आचरण करने का सन्देश देता है **'देवा अकुर्वत इत्यु वै मनुष्याः कुर्वते' (१.५.९.४)।** यहाँ सत्यभाषण, वाणी की मधुरता, अतिथि-सत्कार, तपोमय जीवन, सामाजिक संगठनशीलता, सम्पत्ति का परोपकार हेतु विनियोग, मांस भक्षण से दूर रहना तथा ब्रह्मचर्य के पालन पर विशेष बल दिया गया है। श्रद्धा को एक विशिष्ट जीवनमूल्य मानते हुए अमृत का दोहन करने वाली बछिया के समान माना गया है। वह संसार की पालिका है। **'श्रद्धया देवो देवत्वमश्नुते। कामवत्सामृतदुहाना। श्रद्धा देवी प्रथमजा ऋतस्य। विश्वस्य भर्त्री जगतः प्रतिष्ठा। तां श्रद्धां हविषा यजामहे' (३.१२.३.२)।**

यहाँ मनुष्य के मन को सर्वोच्च प्रजापति माना गया है। सभी क्रियाएँ उसी से उत्पन्न होती हैं अतः मन की शुद्धि परम आवश्यक बताई गई है जिसमें नानाविध कामनाओं का भी परित्याग अपेक्षित है क्योंकि वे समुद्र

के समान अपार हैं **‘मन एव हि प्रजापतिः।... येन पूतस्तरति दुष्कृतानि... समुद्र इव हि कामः नैव कामस्यान्तोऽस्ति।**

पावमानी का प्रस्तुत अंक ‘तैत्तिरीय ब्राह्मण में विविध विद्याएँ’ अपने सुधी पाठकों की वेद और ब्राह्मणग्रन्थ विषयक ज्ञानराशि में अवश्यमेव अभिवृद्धि करेगा और साथ ही उनकी पशुयाग, पुरुषमेध, मांसभक्षण आदि अनेक वेदविरुद्ध भ्रान्त धारणाओं को भी निर्मूल करने में समर्थ होगा। इन शोधपूर्ण लेखों में निहित ज्ञान से न केवल पाठकवृन्द अपितु सम्पूर्ण मानव समाज एक उत्तम, आदर्श, आचार दर्शन की शिक्षा प्राप्त कर निरन्तर सुमार्ग पर चलने के लिए प्रेरित होता रहेगा।

प्रो. सोमदेव शतांशु

अनुक्रमणिका

तैत्तिरीय ब्राह्मण के आलोक में वैदिक सन्देश

प्रो. कन्हैयालाल पाराशर[१]

तैत्तिरीय ब्राह्मण कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का अतिप्राचीन ग्रन्थ है। दक्षिण भारत में तो कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा और इस शाखा से सम्बन्धित तैत्तिरीय ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक, तैत्तिरीयोपनिषद् का ही सर्वाधिक पठन-पाठन, प्रचार-प्रसार आज भी दृश्यमान होता है। वहाँ तैत्तिरीय शाखा के प्रचार को लेकर पाश्चात्य विद्वान् बर्नल ने तो दाक्षिणात्य जन-श्रुति के आधार पर यहाँ तक कहा है कि- "दक्षिण की घरेलू बिल्लियाँ भी तैत्तिरीय शाखा जानती हैं।" इसका उल्लेख डॉ० बलदेव जी ने भी अपने ग्रन्थ, **ब्राह्मण ग्रन्थों के राजनीतिक सिद्धान्त** (पृष्ठ २४) में किया है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में मन्त्रों की बहुलता है। उत्तरवर्ती पुराणों के लिए यह उपजीव्य ग्रन्थ है। पुराणों के अनेक आख्यान यहीं से उद्धृत हैं। इसमें सामवेद का श्रेष्ठत्व प्रतिपादित है। शतपथ ब्राह्मण के बाद तो यही अति महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें यज्ञीय कर्मकाण्ड का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है।

यह तो सर्वविदित ही है कि ब्राह्मण ग्रन्थों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय

---

[१]**विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, साधु आश्रम, होशियारपुर (पंजाब)**

यज्ञ-याग आदि नाना प्रकार के सत्रों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन है, किन्तु सभी ब्राह्मण ग्रन्थों में कर्मकाण्ड-प्रतिपादक विधि-विधानों के माध्यम से मानवीय उत्कर्ष के आधायक नैतिक सिद्धान्त भी उजागर हुए हैं। ऋषियों के ये आर्षवाक्य सार्वकालिक, सार्वदेशिक और सार्वग्राह्य हैं। शतपथ-ऐतरेय आदि ब्राह्मण ग्रन्थों की पद्धति पर तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी हमें वेद का यह प्रेरणादायक अमर सन्देश मिलता है, जो वैदिकयुगीन प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक उत्थान के परिचय के साथ ही आज भी जीवन-मूल्यों के रक्षण और संवर्धन का पाठ भी पढ़ाता है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण का कथन है कि- **देवो भूत्वा देवान् यजेत्**। सत्य, सुनृता वाणी, तपोमय जीवन, समाज संगठन, पारिवारिक मेल-जोल, धन सम्पत्ति का परोपकार के कार्यों में सदुपयोग सात्विक दिनचर्या, सात्विक भोजन, ब्रह्मचर्य का पालन, अतिथि-सेवासत्कार विशेषरूप से समादरणीय हैं। इनके पालन में असावधानी हो जाने पर शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त से ही शुद्धि सम्भव है, अन्यथा सदाचार के नियमों का उल्लङ्घन करने पर तो अनिवार्य रूप से न केवल वर्तमान जन्म में ही अपितु जन्म-जन्मान्तरों तक कई जन्मों में दण्ड भोगना ही पड़ेगा। तैत्तिरीय ब्राह्मण के ज्ञान सन्देश की पुष्टि में महर्षि वेद-व्यास की यह चेतावनी भी पापकर्मों से विरत होने पर भी प्रेरणा देती है कि-

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वं कृतं कर्म कर्त्तारमनुगच्छति॥[२]

अर्थात् जैसे सहस्रों गौओं के बीच भी बछड़ा अपनी माँ को पहचान लेता है, ऐसे जन्म जन्मान्तर तक पूर्वजन्म में किया पाप अपने कर्त्ता का पीछा करता है।

---

[२]महाभारत, शान्ति पर्व १८१, १६

तैत्तिरीय ब्राह्मण में नैतिक कर्मों के आचरण पर विशेष बल दिया गया है। वैदिक संहिताओं का अनुकरण करते हुए ऋत के पालन को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है। कहा गया है कि- **ऋतं नात्येति किञ्चन।**[३] 'ऋत' प्रकृति का वह धर्म है, जिसके द्वारा निर्बाध रूप से प्रकृति में सारे कार्य व्यवहार चलते हैं। ऋतुओं का आगमन, सूर्योदय, दिन और रात का आगमन इत्यादि सम्पूर्ण प्राकृतिक विधानों की क्रमबद्धता के मूल में ऋत ही है। वैदिक धारणा में चराचर लोक की सृष्टि (निर्माण), संवर्धन और संहार का नियामक तत्त्व ऋत है। काणे महोदय के मत में ऋत के तीन स्वरूप हैं[४] -

१. प्रकृति की गति या अखिल ब्रह्माण्ड में एक-सा सामान्य क्रम।

२. यज्ञ के सन्दर्भ में ऋत का अर्थ है- देवताओं की पूजा की सम्यक् एवं व्यवस्थित विधि अर्थात् यज्ञ के नियमों का सावधानी से पालन करना।

३. ऋत का तृतीय अभिप्राय है मानव का नैतिक आचरण। तभी तो, तैत्तिरीय ब्राह्मण में इस तथ्य का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि- भूमि और समुद्र सभी ऋत पर अवलम्बित हैं।[५] ऋत का विपरीत अनृत है। प्रकृति के साथ अनुचित और अनावश्यक छेड़-छाड़ करना ऋत का उल्लङ्घन है। यज्ञ के नियमों, विधि-विधानों का उल्लङ्घन भी अनृत (पाप) है और मानवीय जीवन में नैतिक आचरण का उल्लङ्घन भी अनृत है, पाप है। तैत्तिरीय ब्राह्मण हमें सावधान करता है कि अनृत करने वालों को वरुण देवता दबोच लेता है-

---

[३]तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.५.१

[४]काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, पृ. २१६

[५]तै.ब्रा. १.५.५.१

अनृते खलु क्रियमाणे वरुणो गृह्णाति।[६]

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार भी अनृत कथन करने वाला यज्ञ से बहिष्कृत होना चाहिए।[७] तैत्तिरीय ब्राह्मण ऋत और सत्य में कोई तात्विक भेद नहीं मानता उसका कथन है कि-

यद्दतं तत्सत्यम्।[८]

ऋतं सत्येऽद्यायि सत्यममृते अघासि।[९]

स्वामी समर्पणानन्द जी ने गुरुकुलीय जीवन में गुरुमुख से श्रवण किये हुए एक प्रसङ्ग का उल्लेख किया है कि सत्य को उचित भी होना चाहिए। एक दुराचारी व्यक्ति मद्यपान करके पास-पड़ौस तक को प्रतिदिन तंग करता है, गाली-गलौच करता रहता है, इस सत्य को उचित नहीं कहा जा सकता।

सदाचरण के लिए मन की शुद्धि को तैत्तिरीय ब्राह्मण में अत्यावश्यक बताया है। वहाँ कहा गया है कि मन की पवित्रता से ही दुराचरण से बचा जा सकता है।

येन (मनसा) पूतस्तरति दुष्कृतामि।[१०]

तैत्तिरीय ब्राह्मण में मन को ही सब बताया गया है-

मन एव हि प्रजापतिः।[११]

मन की शुद्धि हेतु कामनाओं का त्याग अचूक उपाय है क्योंकि कामनाओं का अपार समुद्र तो अनन्त है-

---

[६] तै. ब्रा. १.७.२.३

[७] तै.ब्रा. १.७.२

[८] तै.ब्रा. ११.५.५.४

[९] तै.ब्रा. ३.७.७.४

[१०] तै.ब्रा. ३.१२.३.४

[११] तै.ब्रा. २.२.६.२

समुद्र इव कामः नैव हि कामस्याऽन्तोऽस्ति।[१२]

यज्ञ के माहात्म्य के विषय में शतपथ ब्राह्मण का वचन है-

यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।[१३]

मानव जीवन में यज्ञ की परमावश्यकता का निर्देश हमें तैत्तिरीय ब्राह्मण में मिलता है जो इस प्रकार है कि यज्ञ से ही अन्न-धन सब कुछ जीवनोपयोगी साज-समान मिलता है-

यज्ञो रायो यज्ञ ईशे वसूनाम्।
यज्ञः सस्यानुमृतसुक्षितीनाम्॥[१४]

तैत्तिरीय ब्राह्मण में कामना की गई है कि यज्ञ की वेदि गोधन-गजधन-वाजिधन और वीर पुत्र-पौत्रों के द्वारा सदा-सदा फलती-फूलती रहे।

अयं यज्ञो वर्धतां गोभिरश्वैः।
इयं वेदिस्पत्या सुवीराः॥[१५]

यज्ञ की सफलता के लिए तित्तिरि ऋषि सावधान करते हैं, वे निर्देश देते हैं कि यज्ञ के ऋत्विजों और यजमान तथा यज्ञ-सम्पादन में सभी सहायकों को अनृत-असत्य भाषण से दूर रहना चाहिए।

आहिताग्निः न अनृतं वदेत्।[१६]

तथा आहिताग्नि को माँस-मदिरा-परस्त्री सेवन आदि दुर्गुणों का भी निषेध अत्यावश्यक है।[१७]

---

[१२]शतपथ ब्रा. १.७.१.५

[१३]तै.ब्रा. २.५.५.१

[१४]वही

[१५]तै.ब्रा. २.४.६.८

[१६]तै.ब्रा. ३.२.८.११

[१७]इन्द्र का सोमपान आख्यान- तै.ब्रा.१.८.५

सोमयाग में सोमपान को लेकर तैत्तिरीय ब्राह्मण में[१८] अधिक मात्रा में सोमपान के कुप्रभावों का भी वर्णन मिलता है। आख्यान है कि अधिक मात्रा में सोम का पान करके इन्द्र उसे पचाने में असमर्थ हो गया। सोम वमन द्वारा बाहर आ गया। इससे इन्द्र की शक्ति क्षीण हो गई थी तब अश्विनीकुमारों और सरस्वती ने उसकी सफल चिकित्सा की। इसी प्रसङ्ग में कात्यायन ऋषि के अनुसार इस सोमलता के स्वरूप और गुणों की पहचान यह है-

श्यामलम्ला च निष्प्राणा क्षीरिणी मांसला।
श्लेष्मला च फनी बल्ली सोमाख्या द्वाय भोजनम्॥[१९]

धन का सदुपयोग-

जिस धन-सम्पत्ति से यज्ञ याग आदि इष्टापूर्त कर्म किये जाते हैं, वह सदा अक्षय्य रहती है। तित्तिरि ऋषि का सदुपदेश है कि-

न वा नश्यन्ति न दयाति तस्करः नैनामत्नि व्यधिराद्धर्षति।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च॥[२०]

सहस्रों वर्षों के अनन्तर सन्त कबीर ने भी इस तथ्य को इन शब्दों में कहा-

चिड़ि चोंच भर ले गई घटयो न सरवर नीर।
दान दिये धन घटत नहीं कह गए दास कबीर॥

अतिथि सत्कार-

तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि सभी गृहस्थ परिवारों को घर आये अतिथियों को अन्न, जलपान आदि से तृप्त करना चाहिए।

---

[१८]देखें कात्यायन श्रौत सूत्र, पृष्ठ-५३

[१९]तै.ब्रा. २.४.६.९

[२०]ऋग्वेद १०.११७.६

सायं यावानश्च वै देवाः प्रातर्यावाणश्चाग्निहोत्रिणो गृहमागच्छन्ति, तान्यन्नेन तर्पयेत् ॥

वेद तो, अतिथि को खिलाये बिना जो खाता है, उसे पापी मानता है-

केवलाघो भवति केवलादी।[२१]

स्त्री सम्मान-

तैत्तिरीय ब्राह्मण में स्त्री जाति का पूर्ण सम्मान किया गया है। पत्नी की सहभागिता को प्रदर्शित करते हुए कहा है कि पुरुष के लिए उसकी पत्नी अर्धांगिनी है। पत्नी के बिना पति अधूरा ही होता है।

अथो अर्धो वा एष योऽपत्नीकः।[२२]

सपत्नीक व्यक्ति को ही यज्ञ करने का अधिकार है-

अयज्ञो वा एष योऽपत्नीकः।[२३]

घर-परिवार-

पारिवारिक व्यवस्था में सामञ्जस्य बना रहे, कहीं किसी प्रकार का व्यतिक्रम न हो इसके लिए तैत्तिरीयब्राह्मण में व्यवस्था दी है कि बड़े-भाई या बहिन के रहते छोटे भाई या बहिन का विवाह नहीं होना चाहिए। जो बड़े भाई-बहिन के रहते विवाह कर लेता है उसे **अग्रेदिधीषु**[२४] तथा जिसके विवाह से पूर्व उसके छोटे भाई-बहिन का विवाह हो जाता था उसे- **परिवित्ति**[२५] भी संज्ञा से बोधित किया है। अग्रदिधीषु और परिवित्ति

[२१] तै.ब्रा. ३.३.३.५

[२२] तै.ब्रा. २.२.२.६

[२३] तै.ब्रा. ३.२.८.४

[२४] तै.ब्रा. ३.२.६.११

[२५] तै.ब्रा. २.४.६.३.

दोनों का ही तैत्तिरीय ब्राह्मण ने निषेध किया है।

इस प्रकार उक्त सन्दर्भों से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि तैत्तिरीय ब्राह्मण ने वेद के सन्देश को सर्वसाधारण के लिए सुगम बनाने के निमित्त अपनी विशिष्ट भूमिका का निष्ठापूर्वक निर्वाह किया है। वस्तुत: भारतीय परम्परा में ज्ञान की परिणति आचार में मानी गई। वेदों से लेकर ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों, उपनिषदों, रामायण-महाभारत समस्त पुराण साहित्य एवं स्मृतियों तथा उत्तरवर्त्ती लौकिक संस्कृत साहित्य सभी में सदाचार को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। कहा गया है कि-

आचारहीनं न पुनन्ति वेदा:।

आचारहीन ज्ञान तो केवल सूचनामात्र देने का काम कर सकता है। राष्ट्र के निर्माण में उसकी भूमिका तब तक अधूरी रहती है, जब तक उसे कर्मानुष्ठान और आचार से सम्बद्ध न किया जाए। कहना न होगा कि तैत्तिरीय ब्राह्मण में आलोकित वेद का सन्देश ही हमारे राष्ट्र का पथ प्रदर्शन करने में पूर्णतया सक्षम है-

नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में ऋषि तित्तिरि सम्पूर्ण मानवजाति के लिए प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि-

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्न आसुव।[२६]

यही प्रार्थना ऋग्वेद में भी की गई है। इस प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण में वेद के सन्देश को ही अग्रसारित-प्रचारित किया है।

---

[२६] ऋग्वेद ५.८२.५ वा.स. ३०.३

तैत्तिरीय ब्राह्मण में निरूपित नक्षत्र

डॉ. अमरनाथ सिंह[१]

तैत्तिरीय ब्राह्मण में नक्षत्रों का वर्णन बड़ा ही मनोहर, सुन्दर, चमत्कारिक और स्वाभाविक रूप में उपलब्ध होता है। अहोरात्र (दिन-रात्रि) पूर्णिमा, अमावस्या, मास एवं संवत्सर से नक्षत्रों का सापेक्ष सम्बन्ध है। इसी प्रकार सूर्य, पृथिवी एवं चन्द्रादि की भाँति हमारे जलवायु तथा जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। ग्रहों एवं नक्षत्रों से हमारा जीवन सर्वदा प्रभावित होता रहता है।

'नक्षत्र' का अर्थ सामान्यतः 'तारा' या 'तारक-पुञ्ज' ग्रहण किया जाता है।[२] तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार नक्षत्र शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है- जो क्षत नहीं हैं, वो नक्षत्र हैं।[३] निरुक्त में भी ऐसा ही कहा गया है।[४] तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक स्थान पर नक्षत्रों को 'तारा' बतलाया गया है। इस उल्लेख के अनुसार पृथिवी और अन्तरिक्ष के मध्य जल ही जल विद्यमान था। उन जलों से ये नक्षत्र तैर गये, इसी कारण ये तारक

---

[१] **पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, एन. ए. एस. कॉलेज, मेरठ**

[२] संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे।

[३] प्राहुर्वा अग्रे क्षत्रण्यातेषुः। तेषामिन्द्र क्षत्राण्यादत्त। न वा इमानि क्षत्राण्य भूवन्निति तन्नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम्। तैत्तिरीय ब्राह्मण- २.७.१८.३

[४] नक्षत्राणि नक्षत्रेर्गतिकर्मणः। निरुक्त

कहलाने लगे और तभी से तारकाओं को तारकत्व प्राप्त हो गया।[५] प्रस्तुत ब्राह्मण में ही दूसरे स्थान पर लिखा है कि नक्षत्र ही देवों के घर (देवगृह) हैं।[६] यहाँ पर नक्षत्र का महत्त्व बतलाने के लिए ही नक्षत्रों को देवताओं का घर बतलाया गया है।

नक्षत्रों की संख्या: नक्षत्रों की संख्या प्रायः सत्ताईस मानी गयी है।[७] तैत्तिरीय संहिता[८] और काठक संहिता[९] में भी इनकी संख्या सत्ताईस ही स्वीकार की गयी है। किन्तु अथर्ववेद[१०] में अट्ठाईस नक्षत्रों का उल्लेख किया गया है। मैत्रायणी संहिता में 'अभिजित्' को मिलाकर अट्ठाईस नक्षत्रों का नाम निर्देश हुआ है।[११] इसी प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी 'अभिजित्' को मिलाकर नक्षत्रों की संख्या अट्ठाईस हो गयी है।[१२] प्रस्तुत ब्राह्मण में तीन स्थानों पर सम्पूर्ण नक्षत्रों का नाम उल्लेख तथा साथ में उनके देवताओं का भी नाम निर्देश किया गया है।[१३] एक स्थान पर

---

[५] सलिलं न इदमन्तरा आसीत्। यदतरन्।
तत्तारकाणां तारकत्वम्। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.२.५

[६] देवगृहा वै नक्षत्रणि। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.२.६

[७] तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.१, ३.१.१.-२, ३.१.४-५, शतपथ ब्राह्मण १०.४.४.५

[८] तैत्तिरीय संहिता ४.४.१०

[९] काठक संहिता ३९.१३

[१०] चित्रणि साकं दिवि रोचनानि सरासृपाणि भुवने जवानि ।
अष्टाविंशं सुमतिमिच्छमानो अहानि गीर्भिः सपर्यामि नमामि॥ अथर्ववेद १९.७.१

[११] मैत्रायणी संहिता २.१३.२०

[१२] अग्नेः कृत्तिकाः ------यमस्यापभरणी। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.१
अभिजिन्नाम नक्षत्रम्। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.२
ब्राह्मणो वा अष्टाविंशो नक्षत्राणाम्। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.३.४

[१३] तैत्तिरीय ब्राह्मण- १.५.१, ३.१.१-२, ३.१.४.१

नक्षत्रों का नाम निर्देश इस प्रकार किया गया है[१४]- कृतिकाएँ, रोहिणी, इन्वकाएँ, बाहू (द्विवाचक), पुनर्वसु, तिष्य, आश्लेषाएँ, मघाएँ, पूर्वेफल्गुनी, उत्तरेफल्गुनी, हस्त, चित्रा, निष्ट्या, विशाखे, अनुराधाएँ, रोहिणी, मूलबर्हणी, पूर्वा आषाढाएँ, उत्तरा आषाढाएँ, श्रोणा, श्रविष्ठाएँ, शतभिषज्, पूर्वे प्रोष्ठपदाएँ, उत्तरे प्रोष्ठपदाएँ, रेवती, अश्वयुजौ और अपभरणी। इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी सम्पूर्ण नक्षत्रों का नाम-निर्देश और उनका चमत्कारिक वर्णन भी उपलब्ध होता है।[१५]

प्रत्येक नक्षत्र का परिचय :

कृत्तिकाएँ - कृत्तिकाओं का समूह जाल की तरह होता है। 'कृत वर्तने' धातु से निर्मित कृत्तिका शब्द का अर्थ भी जाल होता है। कृत्तिका नक्षत्र समूह में अम्बा, दुला, नितत्नी, अभ्रयन्ती, मेघयन्ती, वर्षयन्ती और चुपुणीका इन सात ताराओं का अन्तर्भाव माना गया है।[१६] शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि अन्य नक्षत्र संख्या में एक, दो, तीन या चार हैं,

---

[१४] अग्नेः कृत्तिकाः। --- प्रजापते रोहिणी। --- इन्वका विततानि । --- रुद्रस्य बाहू। --- आदित्यै पुनर्वसु। --- बृहस्पतेस्तिष्यः। --- सर्पाणामाश्रेषाः। --- पितृणां मघाः। --- अर्यम्णः पूर्वे फल्गुनी। --- भगस्योत्तरे। --- सवितुर्हस्तः। --- इन्द्रस्य चित्रा। --- निष्ट्या व्रततिः। --- इन्द्राग्न्योर्विशाखे। --- मित्रस्यानूराधाः। --- इन्द्रस्य रोहिणी। --- निर्ऋत्यै मूलबर्हणी। --- अपां पूर्वाषाढाः। --- देवानामुत्तराः। --- विष्णोः श्रोणाः। --- वसूनां श्रविष्ठा। --- इन्द्रस्य शतभिषक्। --- पूर्वे प्रोष्ठपदाः। --- बुध्नियस्योत्तरे। --- पूष्णो रेवती। --- अश्विनोरश्वयुजौ। --- यमस्यापभरणी। --- देवा अदधुः। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.१

[१५] शतपथ ब्राह्मण १०.५.४.५, पंचविंश ब्राह्मण २३.२३, कौषीतकि ब्राह्मण- ५.१, तैत्तिरीय संहिता ७.१.२.२, वाजसेनयी संहिता -९.७, काठक संहिता ३९.१३ इत्यादि।

[१६] (क) अम्बायै स्वाहा। दुलायै स्वाहा। नितत्न्यै स्वाहा। अभ्रयन्त्यै स्वाहा। मेघयन्त्यै स्वाहा। वर्षयन्त्यै स्वाहा। चुपुणीकायै स्वाहा। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१.४
(ख) तैत्तिरीय संहिता ४.४.५.१, काठक संहिता ४०.४॥

परन्तु कृत्तिकाएँ बहुत हैं।[१७] इसके देवता अग्नि हैं।[१८]

तैत्तिरीय ब्राह्मण[१९] और कुछ संहिताओं[२०] ने कृत्तिका नक्षत्र पुञ्ज में ही 'अग्न्याधान' संस्कार सम्पन्न करने के लिए अनुमोदन किया है। प्रस्तुत उल्लेख से ज्ञात होता है कि कृत्तिकादि नक्षत्रों में अग्न्याधान करना शुभ और सफलता का कारण है। प्रस्तुत नक्षत्र को नक्षत्रों का मुख माना गया है।[२१]

रोहिणी - यह एक तीव्र कान्ति और रक्त-वर्ण वाला तारा है। एक उल्लेख के अनुसार इसे प्रजापति का दुहिता बताया गया है।[२२] इसी रोहिणी ने आकाश में ऊपर स्थित होकर रोहिणी नामक नक्षत्र का रूप धारण कर लिया।[२३] दूसरे स्थान पर लिखा है कि प्रजापति ने रोहिणी नक्षत्र में अग्नि उत्पन्न किया और देवताओं ने अग्नि को रोहिणी में धारण करवाया।[२४] इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि रोहिणी एक प्रज्वलित एवं रक्ताभ तारा है। इस नक्षत्र के देवता प्रजापति हैं।[२५]

---

[१७] एकं द्वे त्रीणि चत्वारीति वा अन्यानि नक्षत्रण्यथैता एव भूयिष्ठा यत्कृत्तिकाः। शतपथ ब्राह्मण २.१.२.२

[१८] तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.१

[१९] कृत्तिकात्स्वग्निमादधीत। ---- अग्नेर्नक्षत्रम्। ---- ब्रह्म वर्चसी भवति। मुखं वा एतन्नक्षत्राणां यत्कृत्तिकाः। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.१.२

[२०] काठक संहिता ८.१, मैत्रयणी संहिता १.६.९

[२१] तैत्तिरीय ब्राह्मण १.१.२

[२२] प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरम्। ऐतरेय ब्राह्मण १३.६

[२३] सा तत् उर्ध्वारोहत। सा रोहिण्यभवत्। तद्रोहिण्यै रोहिणित्वम्। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.१.१०.६

[२४] प्रजापति रोहिण्यामग्निसृजत। तं देवा रोहिण्यमादधत्।

[२५] प्रजापते रोहिणी। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.१

इन्वका - इसे मृगशीर्ष भी कहा गया है।[२६] वैदिक इण्डेक्स के अनुसार मलिन प्रकाश वाला होने के कारण इसे मन्द ज्योति वाला तारक पुञ्ज बतलाया गया है।[२७] इसके देवता सोम हैं।[२८]

बाहू - यह भी द्विवाचक शब्द है।[२९] इससे ज्ञात होता है कि यह दो ताराओं के नक्षत्र-पुञ्ज का द्योतक है। इसके देवता रुद्र हैं।[३०] इसे ही आर्द्रा बताया गया है।[३१]

पुनर्वसू - यह भी द्विवाचक शब्द है।[३२] इससे ज्ञात होता है कि यह दो ताराओं के समुदाय का सूचक है। इसके शाब्दिक अर्थ से ज्ञात होता है कि जो पुनः सम्पत्ति (वसु) प्रदान करे, वह पुनर्वसु है।[३३] इस तारक-समुदाय का देवता अदिति है।[३४]

तिष्य - यह नितान्त मन्द प्रकाश वाला तारा है। इसके देवता बृहस्पति हैं।[३५]

आश्रेषाएँ या आश्लेषाएँ - यह एक नक्षत्र-समूह का द्योतक है।

---

[२६] सोमस्येन्वका मृगशीर्षः। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.१ पर भट्टभास्करभाष्य

[२७] वैदिक इण्डेक्स, भाग-१, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

[२८] तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.१- सोमस्येन्वका विततानि।

[२९] तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.१

[३०] रुद्रस्य बाहू। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.१

[३१] रुद्रस्य बाहू आर्द्रा। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.१ पर भट्टभास्कर का भाष्य

[३२] तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.१

[३३] ते पुनर्वस्वोराधत। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.१.२

[३४] अदित्यै पुनर्वसू। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.१

पुनर्वसूनक्षत्रमदितिर्देवता तैत्तिरीय संहिता ४.४.१०

[३५] (क) बृहस्पतेस्तिष्यः। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.१

(ख) तिष्यो नक्षत्रं बृहस्पतिर्देवता। तैत्तिरीय संहिता ४.४.१०

इसके देवता सर्प हैं।[३६]

फल्गुनी - इसमें दो नक्षत्र-पुञ्जों का अन्तर्भाव होता है - पूर्वे फल्गुनी और उत्तरे फल्गुनी। दोनों के देवता भिन्न-भिन्न हैं। पहले फल्गुनी के देवता अर्यमा और दूसरे के भग हैं।[३७] तैत्तिरीय संहिता में दो नक्षत्र-पुञ्जों का अलग-अलग विभाजन नहीं है अपितु वहाँ पर फल्गुनी शब्द की दो बार पुनरावृत्ति है।[३८] कौषीतकि ब्राह्मण में एक स्थल पर 'फल्गू' शब्द का प्रयोग किया गया है।[३९] शतपथ ब्राह्मण में फल्गुनी नक्षत्र को ही अर्जुनी नक्षत्र बतलाया गया है।[४०]

हस्त - यह पांच ताराओं का समुदाय है। इस समुदाय की तुलना हाथ के पञ्जे में विद्यमान पांच अंगुलियों से की गई है अथवा यह तारक-समुदाय हाथ के पंजे की तरह आकृति बनाकर रहता है, इसलिए इसका नाम 'हस्त' पडा है। इसका अनेकशः उल्लेख हुआ है।[४१] इसके देवता सविता हैं।[४२]

चित्रा - यह एक सुन्दर तारे का द्योतक है। इसके देवता इन्द्र हैं।[४३]

---

[३६] (क) सर्पाणामाश्रेषाः। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.१

(ख) आश्रेषा नक्षत्रं सर्पो देवता। तैत्तिरीय संहिता ४.४.१०

[३७] अर्यम्णः पूर्वे फल्गुनी। भगस्योत्तरे। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.१

[३८] फल्गुनी नक्षत्रमर्यमा देवता फल्गुनीनक्षत्रं भगो देवता। तैत्तिरीय संहिता ४.४.१०

[३९] कौषीतकि ब्राह्मण ५.१

[४०] एता वा इन्द्रनक्षत्रं यत्फल्गुन्योप्यस्य प्रतिनाम्न्मोर्जुनो ह वै --- नामार्जुन्यः। शतपथ ब्राह्मण २.१.२.१२

[४१] तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.१, १.५.२.२, शतपथ ब्राह्मण २.१.२.१२

[४२] (क) देवस्य सवितुर्हस्तः। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.१

(ख) हस्तो नक्षत्रां सविता देवता। तैत्तिरीय संहित ४.४.१०

[४३] (क) इन्द्रस्य चित्रा। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.१

शतपथ ब्राह्मण में दो दिव्य श्वानों की कथा में भी इसका नाम निर्देश प्राप्त होता है।[४४]

मघा - यह एक शुभ सूचक नक्षत्र समुदाय का द्योतक है, जो हंसिया के आकार का होता है। इसके देवता पितर हैं।[४५]

निष्ट्या - यह एक चमकदार तारा है। इसके देवता वायु हैं।[४६] इसे ही स्वाति नक्षत्र बतलाया गया है।[४७]

विशाखा - यह दो तारों के समुदाय का द्योतक है। यह एक नितान्त चमकदार ताराओं का पुञ्ज है। इन्द्र और अग्नि इस नक्षत्र मण्डल के देवता हैं।[४८]

अनुराधा - यह सम्पत्ति प्रदायक तारकाओं का समुदाय है। इसके देवता मित्र हैं।[४९]

मूलबर्हणी - यह दो ताराओं का पुञ्ज है। इसके देवता पितर हैं।[५०]

(ख) तैत्तिरीय ब्राह्मण १.१.२.४-६

[४४] शतपथ ब्राह्मण २.१.२.१३-१७

[४५] (क) पितृणां मघाः। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.१

(ख) मघा नक्षत्रं पितरो देवता। तैत्तिरीय संहिता ४.४.१०

[४६] वायुर्निष्ट्या व्रततिः। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.१

[४७] (क) वायुर्निष्ट्या स्वाती। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.१ पर भट्टभाष्कर का भाष्य

(ख) स्वाती नक्षत्रां वायुर्देवता। तैत्तिरीय संहिता ४.४.१०

[४८] (क) इन्द्राग्न्योर्विशाखे। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.१

(ख) विशाखे नक्षत्रमिन्द्राग्नी देवता। तैत्तिरीय संहिता ४.४.१०

[४९] (क) मित्रस्यानूराधाः। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.१

(ख) अनूराधा नक्षत्रं मित्रो देवता। तैत्तिरीय संहिता ४.४.१०

[५०] (क) निर्ऋत्यै मूलबर्हणी। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.१

(ख) विचृतो नक्षत्रं पितरो देवता। तैत्तिरीय संहिता ४.४.१०

आषाढाएँ - यह तारक पुञ्ज दो वर्गों में विभक्त है। पूर्व आषाढाएँ और उत्तर आषाढाएँ। दोनों के देवता अलग-अलग हैं। पहले के देवता आपः और दूसरे के देवता विश्वेदेवा हैं।[५१] तैत्तिरीय संहिता में कई विभाजन हैं अपितु वहाँ पर आषाढा शब्द का ही दो बार उल्लेख है।[५२]

श्रोणा - इसे श्रावण भी कहा जाता है। यह एक उज्ज्वल तारे का द्योतक है। श्रोणा का शाब्दिक अर्थ 'लंगड़ा' होता है। इससे ज्ञात होता है कि यह एक वक्राकार तारा है। इसके देवता विष्णु हैं।[५३]

श्रविष्ठाएँ - यह विभिन्न तारक समुदाय वाला नक्षत्र पुञ्ज है। यह हीरे के आकार का होता है। इसके देवता वसु हैं।[५४] तैत्तिरीय ब्राह्मण के ही एक उल्लेख के अनुसार इस नक्षत्रपुञ्ज में चार तारे सम्मिलित हैं।[५५] मैत्रायणी संहिता में इसे 'धनिष्ठा' कहा गया है।[५६] धनिष्ठा का अर्थ है- सर्वाधिक सम्पत्ति वाला तारक समूह।

शतभिषक् - इसका शाब्दिक अर्थ है- सौ भिषकों (चिकित्सकों) वाला। इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि इस नक्षत्र के चारों ओर सौ ताराओं का मण्डल है। इसके देवता इन्द्र हैं।[५७]

---

[५१] अपां पूर्वाषाढाः। ---- विश्वेषां देवानामुत्तराः। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.१

[५२] आषाढाः नक्षत्रमापो देवताषाढा नक्षत्रं विश्वे देवाः। तैत्तिरीय संहिता ४.४.१०

[५३] विष्णोः श्रोणा। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.१

श्रोणा नक्षत्रं विष्णुर्देवता। तैत्तिरीय संहिता ४.४.१०

[५४] (क) वसूनां श्रविष्ठाः। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.१

(ख) श्रविष्ठा नक्षत्रां वसवो देवता। तैत्तिरीय संहिता ४.४.१०

[५५] चतस्रो देवरिजराः श्रविष्ठा। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१.२

[५६] मैत्रायणी संहिता २.१३.२०

[५७] (क) इन्द्रस्याशतभिषक्। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.१

प्रोष्ठपदाएँ - यह दो नक्षत्रों का पुञ्ज है, जो चतुर्भुज के आकार का होता है। प्रथम नक्षत्र पुञ्ज को पूर्वे प्रोष्ठपदा और दूसरे को उत्तरे प्रोष्ठपदा कहा गया है। पहले नक्षत्र-पुञ्ज के देवता अज एकपात् और दूसरे के देवता अहिर्बुध्न्य हैं।[५८] तैत्तिरीय ब्राह्मण के एक उल्लेख के अनुसार उत्तरे प्रोष्ठपदा नक्षत्र पुञ्ज में ताराओं की संख्या चार है।[५९]

रेवती - इसे अनेक तारा पुञ्जों का द्योतक माना गया है। यह सम्पत्ति प्रदायक नक्षत्र है। इसके देवता पूषा हैं।[६०] इसे धनवती बताया गया है।[६१]

अश्वयुजौ - इसका शाब्दिक अर्थ दो अश्वों को एक दूसरे से जोड़ने वाला है। यह द्विवाचक शब्द है। इससे ज्ञात होता है कि इस नक्षत्र में दो ताराओं का पुञ्ज है। इसके देवता अश्विनौ हैं।[६२]

अपभरणी - यह एक त्रिभुजाकार नक्षत्र है। इसमें ताराओं की संख्या तीन से अधिक हैं। इसके देवता यम हैं।[६३]

(ख) शतभिषक् नक्षत्रमिन्द्रो देवता। तैत्तिरीय संहिता ४.४.१०

[५८] अजस्यैकपदः पूर्वे प्रोष्ठपदाः। अहेर्बुध्नि यस्योत्तरे। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.१

[५९] चत्वार एकमभि कर्मदेवाः। तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१.२

[६०] पूष्णो रेवती। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.१

रेवती नक्षत्रं पूषा देवता। तैत्तिरीय संहिता ४.४.१०

[६१] पूष्णो रेवती धनवतीः। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.१ पर भट्टभाष्कर का भाष्य

[६२] अश्विनोरश्वयुजौ। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.१

अश्वयुजौ नक्षत्रमश्विनौ देवता। तैत्तिरीय संहिता ४.४.१०

[६३] (क) यमस्यापभरणीः। तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.१

(ख) अपभरणीर्नक्षत्रं यमो देवता। तैत्तिरीय संहिता ४.४.१०

तैत्तिरीय ब्राह्मणोक्त आचारमीमांसा की आधुनिक युग में प्रासंगिकता

डॉ. देवीसिंह[१]

आचार्यते यः स आचारः

आचार शब्द की इस व्युत्पत्ति के अनुसार यही अर्थ निकलता है कि जो कुछ भी किया जाए वह आचार ही कहलायेगा, परन्तु वह किया गया कर्म शुभाभिमुख भी हो सकता और अशुभाभिमुख भी। शुभाभिमुख होने से वह सदाचार बन जाएगा और अशुभाभिमुख होने से दुराचार। लेकिन सामान्यतः 'आचार' शब्द सदाचार भाव को अधिक दर्शाता है। इस सदाचार की परिभाषा मनुस्मृतिकार ने इस प्रकार दी है-

तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते ॥[२]

अर्थात् उस ब्रह्मावर्त देश में वर्णों एवं आश्रमों का जो परम्परा से चला आ रहा आचरण है वही सदाचार कहलाता है। क्योंकि मनुष्य अपने विशेष गुण के कारण ही पशु जगत से भिन्न है। अतः उसके सद्व्यवहार की उत्कृष्टता को ही शास्त्रीय शैली में आचार कहा गया है। यह 'आचार'

---

[१] **संस्कृतविभाग, जी. जी. डी. एस. डी. कॉलेज, चण्डीगढ़**

[२] मनुस्मृति २.१८

शब्द 'आङ्' उपसर्ग पूर्वक 'चर' धातु से भाव अर्थ में 'घञ्' प्रत्यय लगाने पर निष्पन्न होता है।[3] वेद में भी 'चर' धातु का प्रयोग आचार के अर्थ में मिलता है जैसे-

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।
पुनर्ददताघ्नता जानता सं गमेमहि॥[4]

अर्थात् हमें सूर्य और चन्द्रमा के समान सन्मार्ग का अनुसरण करना चाहिए तथा दान, अहिंसा और ज्ञान के मार्ग पर चलने वालों की संगति करनी चाहिए। यजुर्वेद के चतुर्थ अध्याय में ऋषि, अग्निदेवता की स्तुति करते हुए कहता है कि हे अग्निदेव! हमें दुराचार से हटाकर सदाचार की प्राप्ति करवाओ-

परिमाग्ने दुश्चरिताद् बाधस्व मा सुचरिते भज।[5]

ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों का एक गद्यात्मक खण्ड है। कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय ब्राह्मण में यज्ञ सम्बन्धी अनेक महत्वपूर्ण विषयों का विधान उपलब्ध है। इन ज्ञान बिन्दुओं के बीच में ही मानव जीवन के लिए आचार दर्शन भी परिलक्षित है, जो प्रकृत शोधपत्र का मुख्य विषय है। इस ब्राह्मण ग्रन्थ में सत्य, अहिंसा, मैत्री, तप, परोपकार, ब्रह्मचर्य, श्रद्धाभावना इत्यादि आचार तत्वों का उल्लेख विभिन्न स्थलों पर प्राप्त होता है। क्योंकि वेद में देवों के आचरण को आदर्श माना गया है-

ते हि सत्या ऋतस्पृश ऋतावानो जने जने।
सुनीथासः सुदानवोऽहोश्चिदुरुचक्रयः॥[6]

---

[3] (क) आङ् मर्यादाभिविध्योः। पाणिनीय अष्टाध्यायी- २.१.१३
(ख) आङ् मर्यादावचने। पाणिनीय अष्टाध्यायी- १. ४. ८९

[4] ऋग्वेद ५.५१.१५

[5] यजुर्वेद ४.२८

अर्थात् देवता अमर, सदैव सत्य एवं दानादि व्रतों के पालक हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी ऐसा ही संकेत मिलता है, जिसमें कहा गया है कि

''इति देवा अकुर्वत्। इत्यु वै मनुष्याः कुर्वते''।[७]

अर्थात् मनुष्यों का आचरण देवताओं के समान होना चाहिए।

सत्य-

सत्य को मानव जीवन का सर्वश्रेष्ठ गुण माना गया है। ऋग्वेद में उल्लेख आता है- '**सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतः**[८]' अर्थात् वह सत्य स्वरूप उक्ति मेरी चारों ओर से रक्षा करे। सत्य के आधार पर ही यह पृथिवी स्थित है-

सत्येनोत्तभिता भूमिः।[९]

विदुरनीति कहती है- **न तत्सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम्**[१०] अर्थात् जो छल से युक्त होता है वह सत्य नहीं होता। यजुर्वेद में सत्य के व्रत को धारण करने की इच्छा से ऋषि कहता है-

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि।[११]

अर्थात् हे व्रतों के स्वामी अग्निदेव! मैं अनृत से हटकर सत्यव्रत को ग्रहण करूँगा। तैत्तिरीय ब्राह्मण में उल्लेख है-

ऋतं सत्येऽधायि सत्यमृतेऽधायि[१२]

---

[६] ऋग्वेद ५.६७.४

[७] तैत्तिरीय ब्राह्मण १.५.९.४

[८] ऋग्. १०.३७.२

[९] ऋग्. १०.८५.१

[१०] विदुरनीति ३.५८

[११] यजुर्वेद १.५

अर्थात् सत्य उसी को कहा जाता है जो आँखों से देखकर बोला जाए क्योंकि वाणी झूठ बोल जाती है और मन मिथ्या का ध्यान करने लगता है। इसलिए चक्षु ही विश्वसनीय है।

अनृतात् सत्यमुपैमि। मानुषाद्दैव्यमुपैमि। दैवीवाचं यच्छामि।[१३]

अर्थात् मनुष्य को निरन्तर असत्य से सत्य की ओर जाने का प्रयास करते रहना चाहिए, क्योंकि वह मनुष्यत्व से देवत्व की ओर अग्रसर होने का द्योतक है।

तपोमय जीवन-

जीवन में सुख-दुख, लाभ-हानि, मान-अपमान, सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास इत्यादि को शान्त चित्त से सहन करना तप है। दूसरे शब्दों में अपने मन एवं शरीर को अभ्यास के द्वारा इतना दृढ निश्चयी बना लेना कि जीवन में चाहे किसी भी प्रकार की समस्या या कष्ट आ जाए, प्रत्येक परिस्थिति में विचलित न होना और शान्त भाव से उनका समाधान निकालना तप है। धर्माचरण या सदाचरण में तप का विशेष महत्त्व है। जिन सुकर्मों से कष्ट निवारण होता है और सुख की प्राप्ति होती है तो ऐसे कर्तव्यों का निर्वहण करते रहना और न त्यागना सदाचरण कहलाता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है-

''**तपसा देवा देवतामग्र आयन्। तपसर्मय स्वरन्वविन्दन्। तपसा सपत्नान्प्रमुदामारातीः। येनेदं विश्वं परिभूतं यदस्ति इति।**[१४]

अर्थात् तपस्या से ही देवताओं ने उच्चतरस्थिति को प्राप्त किया। ऋषियों ने स्वर्गिक सुख की प्राप्ति की तथा अपने शत्रुओं का विनाश

---

[१२] तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.७.७.४

[१३] तैत्तिरीय ब्राह्मण १.२.१.१५

[१४] तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१२.३.१

किया और तप से ही यह विश्व टिका हुआ है।

श्रद्धा -

यह शब्द 'श्रत' तथा 'धा' धातुओं के मिलन से निष्पन्न हुआ है। 'श्रत' का अर्थ है- सत्य । 'धा' का अर्थ है धारण करना। अतः मनसा, वचसा और कर्मणा सत्य के धारण और पोषण को श्रद्धा के विषय में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं-

श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्[१५] अर्थात् जो व्यक्ति जिस भी कार्य या व्यक्ति के प्रति श्रद्धायुक्त होता है तभी उस कार्य में सफलता तथा उस व्यक्ति विशेष से ज्ञान की प्राप्ति कर सकता है, क्योंकि जिसके मन में श्रद्धा नहीं होती वह ज्ञानप्राप्ति या किसी कार्य में सफलता का अधिकारी नहीं बन सकता है। इस तथ्य को गीता में श्रीकृष्ण इस प्रकार समझाते हैं-

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥[१६]

अर्थात् अश्रद्धापूर्वक यज्ञ, दान, तप या जो कुछ भी किया हुआ हो उसका फल न तो यहाँ मिलता है और न ही मरने के बाद। तैत्तिरीय ब्राह्मण में श्रद्धारूपी आचार के विषय में उल्लेख मिलता है-

''श्रद्धया देवो देवत्वमश्नुते। श्रद्धा प्रतिष्ठा लोकस्य देवी। कामवत्साऽमृतं दुहाना। श्रद्धा देवी प्रथमजा ऋतस्य। विश्वस्य भर्त्री जगतः प्रतिष्ठा। तां श्रद्धां हविषा यजामहे''।[१७]

---

[१५] भगवद्गीता ४.३९

[१६] (क) तैत्तिरीय ब्राह्मण, सायण भाष्य ३.१२.३.१

(ख) गीता १७.२८

[१७] तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१२.३.१-२

अर्थात् श्रद्धा से ही देवों ने देवत्व की स्थिति को प्राप्त किया है। श्रद्धा इस लोक की प्रतिष्ठा तथा देवी है। अमृत को दुहने वाली तथा कामना की पुत्री है। श्रद्धा ऋत की प्रथम वत्सा है तथा विश्व का पोषण करने वाली और जगत् की प्रतिष्ठा है। उस श्रद्धा की हम हवि के द्वारा स्तुति करते हैं। यजुर्वेद में श्रद्धा के स्वरूप को बताते हुए ऋषि कहता है-

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधत्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥[१८]

अभिप्राय यह है कि प्रजापति भगवान् ने सत्य और असत्य को पृथक्-पृथक् करते हुए अनृत में अश्रद्धा और ऋत (सत्य) में श्रद्धा को स्थापित किया है। सम्भवतः आधुनिक समय में इसलिए लोगों में सत्य के प्रति श्रद्धा और झूठ के प्रति अश्रद्धा दिखाई देती है। श्रद्धा एक ऐसा विषय है, जिसको अपनाने से सत्य की दृढता सिद्ध होती है। यजुर्वेद में एक स्थल पर उल्लेख मिलता है-

व्रतेन दीक्षमाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥[१९]

अर्थात् व्रत करने से दीक्षा की प्राप्ति होती है, दीक्षा से दक्षिणा, दक्षिणा से श्रद्धा और श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है।

मैत्रीभाव -

तैत्तिरीय ब्राह्मण में सबके प्रति मैत्री भावना पर विशेष बल दिया गया है-

सखाया सप्तपदा अभूम्। सख्यं ते गमेयम्।
सख्यात्ते मा योषम्। सख्यान्मे मा योष्ठाः॥[२०]

---

[१८] यजुर्वेद १९.७७

[१९] यजुर्वेद १९.३०

अर्थात् सात पदों की भी यात्रा जिनके साथ हुई हो, वे सभी लोग मित्र हैं। उनके प्रति सख्य भाव रखना चाहिए तथा मित्रता इस भावना से हो कि उनके विश्वास को कभी क्षति न पहुँचे।

इसके अतिरिक्त तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक स्थल पर ऐसा भी विचार दृष्टिगोचर होता है कि व्यक्ति अपनी मेहनत से जो आजीविका कमाता है, उसमें से कुछ भाग परोपकार, दान-पुण्य इत्यादि के कार्यों में लगाना चाहिए।

''न ता नशन्ति न दभाति तस्करः।
नैना अमित्रो व्यभिराद् दधर्षति।
देवाश्च याभिर्यजते ददाति च''॥[२१]

अर्थात् जिस आजीविका से सार्वजनिक परोपकार के लिए हवनादि कृत्यों का अनुष्ठान दान पुण्यादि होता रहता है, उसका कभी विनाश नहीं होता। न तो उसे शत्रु ले जाता है और न ही हानि पहुँचाता है।

प्रकृत शोधपत्र में व्याख्यायित विषय को यदि हम आधुनिक युग के सन्दर्भ में देखें तो ज्ञात होता है कि आज की इस भौतिक चकाचौन्ध में हमें तैत्तिरीय ब्राह्मण द्वारा प्रदत्त आचार सामग्री की आवश्यकता है, क्योंकि व्यक्ति सत्य से परे होकर असत्य का आश्रय लेकर रातों-रात अल्पकाल में ही अपने कार्य सिद्ध करना चाहता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण कहता है कि व्यक्ति को अनवरतरूपेण असत्य से सत्य की ओर अग्रसर होने का प्रयास करते रहना चाहिए। इसके लिए एक तपोमय जीवन का निर्वहन करने की आवश्यकता है, क्योंकि तप से ही देवों ने उच्चस्थिति

---

[२०] तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.७.७.११

[२१] वही २.४.६.८

को प्राप्त किया और ऋषियों ने स्वर्गिक सुख की प्राप्ति की। इस तप के साथ आज के युग में श्रद्धा की आवश्यकता है, क्योंकि व्यक्ति की उसके कार्य के प्रति जब तक श्रद्धा नहीं होती तब तक उस कार्य में पूर्णतः सफलता नहीं मिलती अतः तैत्तिरीय ब्राह्मण श्रद्धापूर्वक कार्य करने की बात कहता है। समाज में मैत्रीभाव से रहते हुए मानसिक परिशुद्धि की बात भी तैत्तिरीय ब्राह्मण कहता है। अतः संक्षेपतः यह कहा जा सकता है कि तैत्तिरीय ब्राह्मण की आचार्य मीमांसा की प्रासंगिकता आधुनिक-युग के सन्दर्भ में बड़ी युक्तियुक्त-सी प्रतीत होती है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में निर्वचन विज्ञान

डॉ. अभिमन्यु[१]

वैदिक संहिताओं के निर्माण के अनन्तर ऋषियों के समक्ष दो समस्यायें प्रमुख रूप से आयीं। **प्रथम**- अर्जित ज्ञानराशि (वेद) की अनन्तकाल तक सुरक्षा तथा **द्वितीय**- परवर्ती काल में आने वाले लोगों के लिए अर्थावबोध की समस्या।

प्रथम समस्या - प्रथम समस्या के समक्ष तात्कालिक उपाय के रूप में ऋषियों ने इस वेदराशि को लिपिबद्ध न कर मौखिक परम्परा या श्रुति परम्परा का विकास किया। यद्यपि इस परम्परा का पालन, पल्लवन और विकसन हजारों वर्षों तक यथारूप चलता रहा किन्तु इसके समक्ष एक व्यावहारिक समस्या यह थी कि प्रथम तो वैदिक साहित्य की विशालता तथा द्वितीय मानव सुलभ विस्मृति, रुचिभेद, क्षेत्रीय भाषाभेद, उच्चारणभेद आदि के चलते पाठभेद की सम्भावना। यद्यपि सभी मन्त्रों के प्रत्यक्षर शुद्ध आकारों की रक्षा के लिए पदपाठ, क्रमपाठ, घनपाठ, जटापाठ, मालापाठ आदि विभिन्न पाठों की सृष्टि हुई, जिससे मन्त्रों के शुद्ध आकार की रक्षा हुई और मन्त्र प्रक्षेपपाठ तथा पाठभेद से पूर्णतः रहित रहा।

---

[१] **सहाचार्य, संस्कृत विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी**

द्वितीय समस्या - जब वैदिक साहित्य के निर्माण के सैकड़ों वर्ष बाद जनभाषा साहित्य की भाषा नहीं रही तब इन मन्त्रों के रहस्य को समझना कठिन हो गया। क्योंकि यह सर्वविदित है कि अर्थावबोध के बिना शब्द पारायण उसी तरह ही है जैसे- भारवाही गर्दभ को भार की प्रतीति होती है किन्तु चन्दन के रहस्य या सुगन्ध की प्रतीति नहीं होती। यथा- **खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।** भाष्यकार कहते हैं- जो वेदों को पढ़कर अर्थ नहीं समझता, वह स्थाणु (ठूँठ पेड़) जैसा निकम्मा है। जो अर्थ जान लेता है वह कल्याण को प्राप्त करता है। उसके सब पाप विनष्ट होते हैं और वह स्वर्ग को प्राप्त करता है-

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते, नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा।

अर्थज्ञान के महत्व को प्रकट करने वाली अनेक ऋचायें और सूक्तियाँ साहित्य में दृष्टिगोचर होती हैं (**उतः त्व पश्यन्न....। यदधीतमविज्ञातं...** आदि, महा. पस्पशा.) अर्थज्ञ होने का तात्पर्य तदनुकूल आचरण करना। अर्थबोध और तदनुकूल कर्म से हीन वाणी वन्ध्या समझी जाती है-

वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम् - (ऋ. ११/७१/०५)।

इसीलिए अर्थ बताने के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना हुई। ब्राह्मण-ग्रन्थों में एक-एक मन्त्र देकर उसकी व्याख्या की गई और उसका विनियोग बताया गया। फलतः वैदिक मन्त्रों के पदविच्छेद, सन्धिविच्छेद, प्रकृति-प्रत्यय का विभाजन कर पदपाठ आदि की रचना हुई और व्याख्या कर ब्राह्मण-ग्रन्थ लिखे गये। वैदिक साहित्य भाषा की अपार शब्द राशि, प्रायोगिक वैविध्य, प्रत्ययसमूह, अर्थ का वैपुल्य, स्वरों का

चमत्कार, चातुर्यपूर्ण वाक्य रचना, पद रचना की रीति तथा शिल्प आदि की दृष्टि से अगाध समुद्र है। सहस्रों वर्षों से सर्वोत्तम तथा परिपूर्णतम माने जाने वाले पाणिनीय व्याकरण द्वारा परिष्कृत संस्कृत भाषा तो उसके आगे गोष्पद सदृश है।[२] अतः शब्दसम्पत्ति और अर्थसम्पत्ति की दृष्टि से अधिक विस्तृत होते हुए भी पूर्णतः व्याकरण लक्षणोपपन्न है। इस अर्थ विश्लेषण के सन्दर्भ में वर्ण, पद, वाक्य, प्रकृति, प्रत्यय आदि का विश्लेषण किया गया। अर्थज्ञान हेतु भाषा के इन विभिन्न रूपों पर इतना अधिक विचार हुआ कि भाषाविज्ञान एक स्वतन्त्र महान् शाखा ही बन गया, जिसका उद्देश्य वैदिक वाणी का विश्लेषण करना हुआ। इसके महत्त्व का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि छ: वेदाङ्गों में शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त और छन्द आदि चार तो केवल भाषा का विश्लेषण करते हैं ।

प्रकृत स्थल पर तैत्तिरीयब्राह्मण में निर्वचन विज्ञान का उल्लेख करना है और यह सिद्ध करना है कि परवर्तीकाल में एक विशिष्टशाखा के रूप जिस भाषापरक चिन्तन का विकसित, व्यवस्थित और विशाल रूप आचार्य यास्क के निरुक्त में प्राप्त होता है, उसका मूल ब्राह्मण ग्रन्थ हैं।

यह स्वाभाविक ही है कि ब्राह्मण ग्रन्थों के आचार्यों ने अपने विषय के अनुरूप शब्दों का निर्वचन किया है। ऋग्वेद संहिता के ब्राह्मणों में ऋग्वेद से सम्बद्ध ऋषियों, देवताओं और होता नामक ऋत्विज् से सम्बद्ध शब्दों का निर्वचन किया गया है। यजुर्वेद से सम्बद्ध ब्राह्मणों में यज्ञों,

---

[२] न दृष्ट इति वैयासे शब्दे मा संशयं कृथाः।

अज्ञैरज्ञातमित्येव पदं न हि न विद्यते॥ यान्युज्जहार माहेन्द्राद्व्यासो व्याकरणार्णवात् ।

पदरत्नानि किन्तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे॥ महाभारत - (देवबोध टीकाकार का प्रारम्भ)

यज्ञपात्रों तथा कर्मकाण्ड के लिए उपयोगी अन्य वस्तुओं के नामपदों का निर्वचन किया गया है। सामवेद के ब्राह्मणों में छन्दों का ही विशेष रूप से अध्ययन किया गया है। अथर्ववेद के ब्राह्मण गोपथ में तथा यजुर्वेद के ब्राह्मण शतपथ में बहुत से सम्बद्ध विषयमात्र से भिन्न शब्दों का भी निर्वचन किया गया है। इसी प्रकार आरण्यकों और उपनिषदों में भी उनसे सम्बद्ध पदों का उपासना और ज्ञानकाण्ड के परिवेश में दार्शनिक अर्थ में निर्वचन किया गया है, क्योंकि वे शब्द उस साहित्य में दार्शनिक अर्थ में ही प्रयुक्त हुए हैं। यही कारण है कि सामन्, ऋक् और गायत्री जैसे अन्यत्र अन्यथाव्याख्यात शब्दों का भी इस साहित्य में दार्शनिक अर्थ ही किया गया है।[३]

तैत्तिरीय ब्राह्मण तैत्तिरीय संहिता का परिशिष्टमात्र है, जो विषय संहिता में अपूर्ण छोड़े गये हैं, उन्हीं की पूर्ति करना इसका उद्देश्य है। इसमें मन्त्रों की बहुलता है। ये मन्त्र सम्पूर्ण ब्राह्मण में आगे पीछे मिश्रित हैं। इनमें मन्त्रों तथा कर्मकाण्ड की व्याख्या अभिप्रेत[४] होने से मन्त्रगत महत्वपूर्ण शब्दों तथा कर्मकाण्ड में प्रयुक्त परिभाषिक शब्दों का निर्वचन अधिक है और अधिकांश निर्वचन ब्राह्मण भाग में ही उपलब्ध हैं। जिनमें प्रत्यक्ष निर्वचनों की संख्या अधिक है। मैंने इस शोधपत्र के लिए ६५ निर्वचनों का अन्वेषण और संग्रह किया है विस्तारभयात् ४५ ही दिये हैं,

---

[३] द्र. दी वैदिक एटिमॉलाजी, डॉ. फतह सिंह

[४] ब्रह्म=वेदः, तस्य व्याख्यानं =ब्राह्मणम् । अष्टा. ४/३/६६

तस्य व्याख्यान इति च व्याख्यातव्य नाम्नः।

सायण- तैत्तिरीय ब्राह्मण भाष्य- १/३/१०/३ पृष्ठ १७५- एतद्वै ब्राह्मणम्- 'सोमाय पितृपीताय' इति मन्त्रस्य व्याख्यान रूपमेतद् ब्राह्मणम्...।

जो निम्नलिखित हैं-

१. अग्निहोत्रं - अग्नि+हु दानादानयोः + अग्नि+ह्वेञ् स्पर्द्धायां शब्दे च।

गौर्वा अग्निहोत्रम् य एव प्राणानामहौषीत् तस्य हुतादजनीति। अग्नेर्हुतादजनीति तदग्निहोत्रस्याग्निहोत्रत्वम्।[5]

तुभ्यमेवेदं हूयाता इत्यब्रवीत्। स एतद्भागधेयमभ्यजायत। यदग्निहोत्रम्। तस्मादग्निहोत्रमुच्यते, इति।[6]

२. अतिग्राह्यम् - अति+ग्रहँ उपादाने

देवा वै यदन्यैर्ग्रहैर्यज्ञस्य नावारुधत। तदति ग्राह्यैरतिगृह्यावारुन्धत। तदतिग्राह्याणामतिग्राह्यत्वम्।[7] **यदतिग्राह्या गृह्यन्ते।**

यदेवान्यैर्ग्रहैर्यज्ञस्य नावरुन्धे। तदेव तैरतिगृह्यावरुन्धे इति।[8]

३. अनड्वान् – अनँ प्राणने + वहँ प्रापणे।

वोढाऽनड्वानित्याह। अनडुह्येव वीर्यं दधाति। तस्मात्पुरा वोढाऽनवड्वानजायत।[9]

४. अनुमतिः - अनु मनँ ज्ञाने।

आनुमतेन प्रचरति इयं वा अनुमतिः इयमेवास्मै राज्यमनु मन्यते।[10] **धात्रे पुरोडाशं द्वादशकपालं निर्वपति। संवत्सरो वै धाता**

---

[5] तैत्तिरीय ब्राह्मण, २/०१/६/३

[6] तैत्तिरीय ब्राह्मण, २/१/२/५-६

[7] तैत्तिरीय ब्राह्मण, १/३/३/१

[8] तैत्तिरीय ब्राह्मण, १/३/३/१

[9] तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३/८/१३/२

[10] तैत्तिरीय ब्राह्मण, १/६/१/४-५

संवत्सरेणैवास्मै प्रजाः प्रजनयति अन्वेवास्मा अनुमतिर्मन्यते।[११]

५. अभिजित् - अभि+ जि जये।

अथाभिजिद्भिर्जिता वै दैवा इमान् लोकानभ्यजयन्।[१२]

तन्नो नक्षत्रमभिजिद्वित्यं श्रियं दधात्वहृणीयमानम्।[१३] **देवासुराः संयन्ता आसन्।**

ते देवास्तस्मिन्नक्षत्रेऽभ्यजयन्। यदभ्यजयन् तदभिजितोऽभिजित्वम्॥[१४]

६. अर्वन् – ऋ गतिप्रापणयोः, अवँ गतौ।

यच्छ्वयदरूरासीत्। तस्मादर्वा नाम, इति।[१५]

७. अश्वः - अशूँ व्याप्तौ, अति+इण् गतौ, अतँ सातत्यगमने

टुओश्वि-गतिवृद्धयोः, अश्–भोजने। अश्वः पशूनामाशुः।[१६] **आशुरश्वोऽजायत्।**[१७] **अत्योऽसीत्याह। तस्मादश्वः सर्वान पशूनत्येति। तस्मादश्वः सर्वेषां पशूनां श्रैष्ठ्यं गच्छति।**[१८]

यत् प्रजापतिरालब्धोऽश्वोऽभवत्। तस्मादश्वो नाम।[१९]

८. अश्वत्थः - अ (नञ्) + श्वः + ष्ठा गतिनिवृत्तौ। अग्निर्देवेभ्यो निलायत।

---

[११] तैत्तिरीय ब्राह्मण, १/७/२/१

[१२] तैत्तिरीय ब्राह्मण, २२/८/४

[१३] तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३/१/२/५

[१४] तैत्तिरीय ब्राह्मण, १/५/२/३-४

[१५] तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३/९/२१

[१६] तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३/८/७/२

[१७] तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३/८/१३/२

[१८] तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३/८/९/१

[१९] तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३/९/२१/१

अश्वो रूपं कृत्वा सोऽश्वत्थ संवत्सरमतिष्ठत्। तदश्वत्थस्याश्वत्थत्वम्।[२०]

९. असुरः - असुँ क्षेपणे, असु+रा दाने, असु+रमुँ क्रीडायाम्।

तेनासुनाऽसुरानसृजत, तदसुराणामसुरत्वम्।[२१]

तेनासुनाऽसुरानसृजत तदसुराणामसुरत्वम्। य एवमसुराणामसुरत्वं वेद, असुमानेव भवति। नैनमसुर्जहाति इति।[२२]

१०. अश्वयुज् - अश्व+ युजिर् योगे। अश्वयुजोरयुञ्जत।[२३]

११. अषाढा - अ (नञ्) षहँ मर्षणे। यन्नासहन्त तदषाढा।[२४]

१२. आज्यम् - अजँ गतिक्षेपणयोः, आ+जि-जये।

वसवस्त्वाऽञ्जन्तु गायत्रेण छन्दसेति महिष्यभ्यनक्ति।

तेजो वा आज्यम्। तेजो गायत्री। तेजसैवास्मै तेजोऽवरुन्धे।[२५]

१३. आदित्यः - आ+दीपीँ +दीप्तौ, आङ्+दाण् दाने, आ+ दो अवखण्डने

यदसुराणां लोकानादत्त। तस्मादादित्यो नाम।[२६]

तं यदस्या (अदितेः) अध्यजनयन् तस्मादादित्यः।[२७]

१४. आप्तिः - आप्लृँ व्याप्तौ

---

[२०] तैत्तिरीय ब्राह्मण, १/१/३/९

[२१] तैत्तिरीय ब्राह्मण, २/३/८/१, २

[२२] तैत्तिरीय ब्राह्मण, २/३/८/२

[२३] तैत्तिरीय ब्राह्मण, १/५/२/८

[२४] तैत्तिरीय ब्राह्मण, १/५/२/८

[२५] तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३/९/४/६

[२६] तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३/९/२१/२

[२७] तैत्तिरीय ब्राह्मण, १/५/१०/१

अर्वाङ् यज्ञः संक्रामत्वित्याप्तीर्जुहोति सुवर्गस्य लोकस्याप्त्य, इति।[२८]

१५. आप्यः - आप्लृँ व्याप्तौ यदद्भ्योऽजायन्त तदाप्यानामाप्यत्वम्।[२९]

१६. आप्रीः - आप्लृँ व्याप्तौ, आ+प्रीङ् प्रीतौ, आ+प्रीञ् तर्पणे।

आप्रीभिराप्नुवन्। तदाप्रीणामाप्रित्वम्।[३०]

१७. आहुतिः- आङ्+हु दानादानयोः, आङ्+ह्वेञ् स्पर्द्धायां शब्दे च

आङ्+ डुधाञ् धारणपोषणयोः। आहुतिर्हूयते।[३१]

द्विपदा हुत्वा। नान्यामुत्तरामाहुतिः जुहुयात्।[३२] **यदाहुतीर्न जुहुयात् आहुतीर्जुहोति।**[३३]

१८. इन्द्रः - इदिँ परमैश्वर्ये कश्चनास्मिन् वा इदमिन्द्रियं प्रत्यस्थादिति तदिन्द्रस्येन्द्रत्वम्।[३४]

१९. इन्द्रस्तुरीयम् - इन्द्रः+तुरीयः (चतुर्थः)। देवासुरासंयत्ता आसन्।

ते देवा अग्निमब्रुवन् त्वयावीरेणासुरानभिभवामेति। सोऽब्रवीत्।

मेधाऽहमस्मान् विकिरिष्यै इति। समेधाऽत्मानं व्यकुरुत।

अग्निं तृतीयम् रुद्रं तृतीयम्। वरुणं तृतीयम्। सोऽब्रवीत्।

---

[२८] तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३/८/१७

[२९] तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३/२/८/११

[३०] तैत्तिरीय ब्राह्मण, २/२/८/६

[३१] तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३/९/११/४

[३२] तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३/९/१२/३

[३३] तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३/९/१५/१

[३४] तैत्तिरीय ब्राह्मण, २/२/१०/४

क इदं तुरीयमिति। अहमितिरिन्द्रोऽब्रवीत्। सन्तुसृजामद्वा इति तौ समसृजेताम्।

स इन्द्रस्तुरीयमभवत्। यदीन्द्रस्तुरीयमभवत् इन्द्रस्तुरीयस्येन्द्रस्तुरीयत्वम्।[३५]

२०. इष्टिः इषँ गतौ इच्छायाम् वा, एषृँ प्रयत्ने, यजँ देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु

एष्टयो ह वै नाम ता इष्टय इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः।[३६]

तमिष्टिभिरन्वैच्छत्। तमिष्टिभिरन्वविन्दत्। तदिष्टीनामिष्टित एष्टयो ह वै नाम ता इष्टय इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः।[३७]

प्रजापतिरश्वमेधमसृजत्। सोऽस्मात्सृष्टोपाक्रामत्। तं यज्ञक्रतुभिरन्वैच्छत तं यज्ञक्रतुभिर्नान्वविन्दत्। तमिष्टिभिरन्वैच्छत्। तमिष्टिभिरन्वविन्दत्। तदिष्टीनामिष्टित्वम्।

यत्संवत्सरमिष्टिभिर्यजते। अश्वमेव तदन्विच्छति, इति।[३८]

२१. उक्थम् - उत्+ष्ठा गतिनिवृतौ, वचँ परिभाषणे।

उक्थैरुदस्थापयन् तदुक्थानामुक्थत्वम्। य एवं वेद प्रत्येव तिष्ठति। सर्वमायुरेति, इति।[३९]

---

[३५] तैत्तिरीय ब्राह्मण, १/७/१/२-३

[३६] तैत्तिरीय ब्राह्मण, १/५/९/२

[३७] तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३/१२/१/१, ३/१२/४/१

[३८] तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३/६/१३/१

[३९] तैत्तिरीय ब्राह्मण, २/२/८/७

प्रजा वा उक्थानि, पशव उक्थानि। यदुक्थ्यो भवति अनुसंतत्यै।[४०]

२२. उद्गीथः - उत्+गा स्तुतौ, उत्+गै शब्दे।

उद्गासीदश्वो मेध्य इत्याह। प्राजापत्यो वा अश्वः। प्रजापतिः उद्गीथः।[४१]

२३. उद्धारम् - उत् + हृञ् हरणे।

उद्धारं वा एतमिन्द्र उदहरत्। वृत्रं हत्त्वा। अन्यासु देवतास्वधि। यदेष ऐन्द्रश्चरुर्भवति। उद्धारमेव तं यजमानं उद्धरते।[४२]

२४. उपगाता - उप+गै शब्दे, उप+गा स्तुतौ

अथो यथोपगातार उपगायन्ति। तादृगेव तत् इति।[४३]

२५. क्रीडनी - क्रीडृँ विहारे।

त एनं वृत्रम् अध्यक्रीडन् तत्क्रीडिनां क्रीडित्वम्।[४४]

२६. क्लृप्तः - कृपूँ सामर्थ्ये।

एष वै क्लृप्तो नाम यज्ञः। कल्पते ह वै तत्र प्रजाभ्यो योगक्षेमः, इति।[४५]

२७. क्लृप्तिः - कृपूँ सामर्थ्ये

दिशां क्लृप्तिरसि दिशो मे कल्पन्ताम्। कल्पन्तां मे दिशः दैवीश्च मानुषीश्च।[४६]

---

[४०] तैत्तिरीय ब्राह्मण, १/८/७/२

[४१] तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३/८/२२/३

[४२] तैत्तिरीय ब्राह्मण, १/६/७

[४३] तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३/८/२२/३

[४४] तैत्तिरीय ब्राह्मण, १/६/७/५

[४५] तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३/९/१९/३

[४६] तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३/७/५

२८. गर्भधः - गर्भ+डुधाञ् धारणपोषणयोः।

आऽहमजानि गर्भधमा त्वमजासि गर्भधमित्याह।

प्रजा वै पशवो गर्भः। प्रजामेव पशूनात्मन्धन्ते।[४७]

गर्भं धत्ते इति गर्भधः

२९. ग्रहः - ग्रहँ उपादाने।

तम् सोमम् अघ्नन। तस्य यशो व्यगृह्णात्। ते ग्रहा अभवन्। तद्ग्रहाणां ग्रहत्वम्।[४८]

तस्य सोमस्य यथाभिज्ञायं तनूर्व्यगृह्णात्। ते ग्रहा अभवन्। तद् ग्रहाणां ग्रहत्वम्।[४९]

ता प्रजाः अस्मात्सृष्टा अपाक्रामान्। ता ग्रहेणागृह्णात् तद् ग्रहस्य ग्रहत्वम्।[५०]

स देवानंशूनकरोत्। तानभ्यषुणोत् तान्पवित्रेणानुपात्।

तान्परस्तात्पवित्रस्य व्यगृह्णात्। ते ग्रहा अभवन्। तद्ग्रहाणां ग्रहत्वम्।

देवता वा एता यजमानस्य गृहे गृह्यन्ते। यद् ग्रहाः विदुरेनं देवाः।

यस्यैवं विदुष एते ग्रहा गृह्यन्ते। इति।[५१]

३०. चन्द्रमस् - चाय+द्रभँ गतौ, चन्द्र+मा माने।

सोऽमन्यत किं किं वा अकरमिति। स चन्द्रं म आहरेति प्रालपत् तच्चन्द्रमसश्चन्द्रमसस्त्वम्।[५२]

---

[४७] तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३/९/६/४

[४८] तैत्तिरीय ब्राह्मण, २/२/८/६

[४९] तैत्तिरीय ब्राह्मण, १/३/१/२

[५०] तैत्तिरीय ब्राह्मण, २/२/१/१

[५१] तैत्तिरीय ब्राह्मण, १/३/१/२

[५२] तैत्तिरीय ब्राह्मण, २/२/१०/३

३१. तारकः - तॄ प्लवनसन्तरणयोः।

सलिलं वा इदमन्तरासीत्। यदतरन्। तत्तारकाणां तारकत्वम्।[५३]

३२. दीक्षा - पृथिवी दीक्षा। तयाग्निर्दीक्षया दीक्षितः। ययाऽग्निर्दीक्षया

दीक्षितः तया त्वा दीक्षया दीक्षयाति ...आपश्चौषधयश्च ऊर्क् च सूनृता च तास्त्वा दीक्षमाणमनु दीक्षयन्ताम्।[५४]

३३. दोग्ध्री - दुहँ प्रपूरणे+डुधाञ् धारणपोषणयोः।

दोग्ध्री धेनुरित्याह। धेन्वामेव पयो दधाति।

तस्मात्पुरा दोग्ध्री धेनुरजायत।[५५]

३४. नक्षत्रम् - न वा इमानि क्षत्राण्यभूवन्निति। तन्नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम्[५६]

यो वा इह यजते अमुं सलोकं नक्षते। तन्नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम्।[५७]

३५. नीवारः - नि+वृञ् आवरणे

स (बृहस्पतिः) नीवारान्निरवृणीत तन्नीवाराणां नीवारत्वम्।[५८]

३६. पञ्चदशः - पञ्च+दशः

चन्द्रमा वै पञ्चदशः। एष हि पञ्चदश्यामपक्षीयते पञ्चदश्यामापूर्यते।[५९]

---

[५३] तैत्तिरीय ब्राह्मण, १/५/२

[५४] तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३/७/७/४-८

[५५] तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३/८/१३/१

[५६] तैत्तिरीय ब्राह्मण, २/७/१८/३

[५७] तैत्तिरीय ब्राह्मण, १/५/२/५

[५८] तैत्तिरीय ब्राह्मण, १/३/६/७

[५९] तैत्तिरीय ब्राह्मण, १/५/१०/५

३७. पञ्चहोता - पञ्च+हु दानादानयोः।

तस्मै पञ्चम हूतः प्रत्यपृणोत्। स पञ्चहूतोऽभवत्।

पञ्चहूतो वै नामैष। तं वा एतं पञ्चहूतं सन्तं पञ्च होतेत्याचक्षते।[६०]

३८. परमेष्ठिन् - परम+ष्ठा गतिनिवृत्तौ

अयं वा इदं परमोऽभूदिति। तत्परमेष्ठिनः परमेष्ठित्वम्।[६१]

३९. परिधिः - परि+डुधाञ् धारणपोषणयोः

धारयन् प्रस्तरं परिधीन्परि दधाति।[६२]

४०. पर्णः - पृ पालनपूरणयोः पर्ण हरितभावे

गायत्रिया ह्रियमाणस्य यत्ते। पर्णमपतत् तृतीयस्यै दिवोऽधि सोऽयं पर्णः सोमपर्णाद्धि जातः।[६३] तृतीयस्यामितो। दिवो सोम आसीत्। तं गायत्र्याऽहरत्।

तस्य पर्णमच्छिद्यत तत्पर्णोऽभवत्। तत्पर्णस्य पर्णत्वम्।[६४]

४१. पाङ्क्तः - पचि विस्तारे व्यक्तीकरणे च पञ्चगृहीतं भवति। पाङ्क्ता हि पशवः।[६५]

४२. पितृयज्ञः - अथर्तवः पितरः प्रजापतिः पितरं पितृयज्ञेनायजन्त।

त एतं लोकमजयन्। यस्मिन्नृतवः। यत्पितृयज्ञेन यजते।

एतमेव लोकं जयति। यस्मिन्नृतवः। ऋतूनामेव सायुज्यमुपैति। यदृतवः।

---

[६०] तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३/३/१९

[६१] तैत्तिरीय ब्राह्मण, ८/२/३/१३

[६२] तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३/३/६/८

[६३] तैत्तिरीय ब्राह्मण, १/२/१/५, ६

[६४] तैत्तिरीय ब्राह्मण, १/१/३/१०

[६५] तैत्तिरीय ब्राह्मण, १/६/३/२

पितरः प्रजापतिं पितरं पितृयज्ञेनायजन्त। तत्पितृयज्ञस्य पितृयज्ञत्वम्।[६६]

यद्दतवः पितरः प्रजापतिं पितरं पितृयज्ञेनायजन्त तत्पितृयज्ञस्य पितृयज्ञत्वम्।[६७]

४३. पुनर्वसुः - पुनः+वसँ निवासे। पुनरेवैनं वामं वसुपावर्तते।[६८]

४४. पुरन्धिः - पुरन्धिर्योषेत्याह योषित्येव रूपं दधाति।[६९]

४५. पृथिवी - प्रथँ प्रख्याने आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्। तेन प्रजापतिरश्राम्यत्।

कथमिदं स्यादिति सोऽपश्यत्पुष्करपर्णं तिष्ठत्। सोऽमन्यत। अस्ति वै तद् यस्मिन्निदमधि तिष्ठतीति। स वराहो रूपं कृत्वोपन्यमज्जत्। स पृथिवीमध आर्च्छत्। तस्या उपहत्योदमज्जत् तत्पुष्करपर्णेऽप्रथयत् तत्पृथिव्यै पृथिवीत्वम्।[७०]

यदप्रथयत् तत्पृथिव्यै पृथिवीत्वम्।[७१]

सा पप्रथे पृथिवी।[७२]

इन उपर्युक्त निर्वचनों के आधार पर निम्नलिखित तथ्य उद्घटित होते हैं -

१. यहाँ शब्दों के भाषिक स्वरूप को स्पष्ट करने का पूर्ण प्रयास

---

[६६] तैत्तिरीय ब्राह्मण, १/९/१०/८

[६७] तैत्तिरीय ब्राह्मण, १/४/१०/८

[६८] तैत्तिरीय ब्राह्मण, १/१/२/३

[६९] तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३/८/१३/२

[७०] तैत्तिरीय ब्राह्मण, १/१/३/६

[७१] तैत्तिरीय ब्राह्मण, १/१/३/३६

[७२] तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३/३/९/१०

किया गया है।

२. शब्द के कर्मकाण्डीय महत्व को निर्वचनों के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

३. निर्वचन की रीति पूर्व ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक विकसित तथा स्पष्ट है।

४. शब्द और अर्थ के मध्य विद्यमान सम्बन्ध को हेतु पूर्वक दर्शाया गया है।

५. निर्वचन के द्वारा नाम पड़ने के कारण को 'त्व' प्रत्यय के साथ दिया गया है।

६. यहाँ प्रयुक्त निर्वचन भाषा चिन्तन की चेतना से युक्त है जो संकल्पित विषय (निर्वचन अर्थोद्घाटन में साधक तथा यास्कीय निरुक्त का मूल है) को सुतराम् परिपुष्ट करते हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में नाचिकेताग्नि का स्वरूप

डॉ. जगमोहन[१]

कठोपनिषद् की प्रथम वल्ली में वाजश्रवा के पुत्र नचिकेता और यम (मृत्यु) का प्रसिद्ध उपाख्यान प्राप्त होता है। जिसमें नचिकेता दूसरे वर के रूप में स्वर्ग साधक अग्नि के स्वरूप को जानना चाहता है। अतः आचार्य यम उसे स्वर्ग साधक अग्नि का उपदेश देते हैं। उस अग्नि के लिए जो जो ईटें चाहिए, जितनी चाहिए, जिस प्रकार की चाहिए आदि का उपदेश देते हैं। यथा -

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।
स चापि तत् प्रत्यवद् यथोक्तम् अथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः॥[२]

आचार्य ने जो कुछ स्वर्गसाधक अग्नि के विषय में कहा था, नचिकेता ने उसको उसी रूप में ग्रहण कर, ठीक उसी रूप में सुना दिया था। अतः आचार्य उसकी कुशाग्र बुद्धि से प्रसन्न होकर उसे वर देते हैं कि यह अग्नि उसी के नाम से प्रसिद्ध होकर नाचिकेत अग्नि के नाम से जानी जायेगी। यथा-

तमब्रवीत् प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः।
तवैव नाम्ना भवितायमग्निः सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण॥[३]

---

[१] **सहायक आचार्य, संस्कृत विभाग, हिन्दू महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय**

[२] कठोपनिषद् प्रथमवल्ली श्लोक-१५

इस आख्यान में नाचिकेताग्नि के विषय में केवल इतनी जानकारी प्राप्त होती है कि यह एक स्वर्ग साधक अग्नि है, किन्तु इसके स्वरूप या चयन के विषय में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती है। परन्तु तैत्तिरीय ब्राह्मण के तृतीय काण्ड के एकादश प्रपाठक में नाचिकेताग्नि के स्वरूप की विस्तृत चर्चा प्राप्त होती है। जिसको अच्छी प्रकार से समझकर हम नाचिकेताग्नि का चयन कर स्वर्ग को प्राप्त कर सकते हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण नाचिकेताग्नि के विषय में कहता है कि इस अग्नि का चयन कर मनुष्य व्यक्तिगत एवं सामाजिक अभ्युदय के साथ साथ पुनर्जन्म के बन्धनों को दूर कर सकता है। यथा -

नास्येष्टापूर्तं क्षीयते, योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते, य उ चैनमेव वेद, अप पुनर्मृत्युं जयति, योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते, य उ चैनमेव वेद।[४]

आचार्य सायण इस अग्नि के चयन के विषय में कहते हैं कि नाचिकेताग्नि का चयन उत्तरवेदि परिमण्डल या चतुरस्र आग्निक्षेत्र में किया जाता है। इस अग्नि के चयन में इक्कीस सुवर्णमयी ईंटों का प्रयोग किया जाता है। यथा -

एकविंशतिर्हिरण्येष्टका: शर्करा वाऽभ्यक्ता उपधानकाले नाभ्यामेवोपधीयन्ते चतुरस्रं परिमण्डलं वा।[५]

इन ईंटों के द्वारा प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों को प्रतिरूपायित किया जाता है। प्रथम ईंट को अग्नि का स्वरूप मानते हुए अग्नि को अविनाशी परम तत्त्व के रूप में वर्णित किया गया है। यथा -

लोकोऽसि स्वर्गोऽसि। अनन्तोऽस्यपारोऽसि[६]।

---

[३]कठोपनिषद् प्रथमवल्ली श्लोक-१६

[४]तैत्तिरीयब्राह्मण, ३काण्ड, प्रपाठक११, अनुवाक८

[५]सायणभाष्य, तैत्तिरीयब्राह्मण, ३काण्ड, प्रपाठक११, अनुवाक१

[६]तैत्तिरीयब्राह्मण, ३काण्ड, प्रपाठक११, अनुवाक१

द्वितीय ईंट को तप का प्रतीक माना है। **तपोऽसि लोके श्रितम्**[७]। इस तप के द्वारा ही उस अग्नि स्वरूप परम तत्त्व को प्राप्त किया जा सकता है। तृतीय ईंट को तेज का प्रतीक माना है। **तेजोऽसि तपसि श्रितम्।**[८] तेज तप के आश्रित रहता है। चतुर्थ को समुद्र का, पञ्चम को जल का, षष्ठ को पृथ्वी का, सप्तम को अग्नि का, अष्टम को अन्तरिक्ष का, नवम को वायु का, दसवीं को द्यौ का, ग्यारहवीं को आदित्य का, बारहवीं को चन्द्रमा का, तेरहवीं को नक्षत्र का, चौदहवीं को संवत्सर का, पन्द्रहवीं को ऋतुओं का, सोलहवीं को महीने का, सत्रहवीं को आधे महीने का, अट्ठारहवीं को दिन-रात का, उन्नीसवीं को पौर्णमासी का, अष्टमी एवं अमावस्या का, बीसवीं को संपत्तिप्रदा का, इक्कीसवीं को ओज, सह, बल एवं भ्राज का प्रतीक माना गया है।[९]

नाचिकेताग्नि में प्रयुक्त होने वाली इन ईंटों के द्वारा सभी लोकों को भी प्रतिरूपायित किया गया है। प्रथम ईंट के द्वारा पृथिवीलोक, द्वितीय ईंट के द्वारा अन्तरिक्षलोक तथा तृतीय ईंट के द्वारा द्युलोक को अग्नि में स्थापित कर उन लोकों को अपने वश में किया जाता है। शेष ईंटों के द्वारा उरु और वरीय लोकों को प्रतिरूपायित कर उन पर विजय प्राप्त की जाती है। आदित्य के अधोवर्ती लोकों का नाम उरु है, जो अन्तवान् और विनाशी है। आदित्य के उपरिवर्ती लोकों को वरीय कहा जाता है, ये अनन्त, अपार एवं अक्षय्य हैं। नाचिकेताग्नि चयन के द्वारा इन उभयविध लोकों को अपने अधिकार में किया जाता है। यथा -

---

[७]वहीं

[८]वहीं

[९]वहीं

यां प्रथमामिष्टकामुपदधाति। इमं तया लोकमभिजयति अथो या अस्मिन् लोके देवताः। तासां सायुज्यं सलोकताम् आप्नोति। --- य एवामी उरवश्च वरीयांसश्च लोकाः। तानेव ताभिरभिजयति। उरवो ह वै नामैते लोकाः। येऽवरेणादित्यम्। अथ हैते वरीयांसो लोकाः। ये परेणादित्यम्।[१०]

मनुष्य की कामना के भेद से ईंटों के चयन की पद्धति में भी वैभिन्न्य प्राप्त होता है। पशु की कामना होने पर नाचिकेत चिति की रचना पंक्तिरूप में करने का नियम है। पंक्ति में पाँच-पाँच ईंटें चारों दिशाओं में तथा एक ईंट नाभि स्थान पर रखी जाती है। सर्वप्रथम पूर्व में ईंटों का आधान होता है। तत्पश्चात् दक्षिण, पश्चिम और उत्तर में। प्राचीन युग में गोबल वार्ष्ण नाम के किसी व्यक्ति ने इसी तरह नाचिकेत का चयन किया था। यथा-

अथ हैनं गोबलो वार्ष्णः पशुकामः। पाङ्क्तमेव चिक्ये। पञ्च पुरस्तात् पञ्च दक्षिणतः पञ्च पश्चात् पञ्चोत्तरतः एकां मध्ये ततो वै स सहस्रं पशून्प्राप्नोत्। प्र सहस्रं पशूनाप्नोति। योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते। य उ चैनं वेद।[११]

ज्येष्ठता और कीर्ति की इच्छा में चयन त्रिवृत पद्धति से संपन्न करने का नियम है। त्रिवृत पद्धति से अग्नि के चयन में सात ईंटे पूर्व में, सात पश्चिम में, उत्तर और दक्षिण में तीन-तीन एवं मध्य में एक ईंट स्थापित की जाती है। त्रिवृत्त - नाचिकेत अग्नि का चयन प्रजापति ने किया था।

यथा - **अथ हैनं प्रजापतिर्ज्यैष्ठ्यकामो यशस्कामः प्रजननकामः।**

---

[१०]तैत्तिरीयब्राह्मण, ३काण्ड, प्रपाठक११, अनुवाक१०

[११]तैत्तिरीयब्राह्मण, ३काण्ड, प्रपाठक११, अनुवाक९

त्रिवृतमेव चिक्ये। सप्त पुरस्तात् तिस्रो दक्षिणतः। सप्त पुरस्तात्। तिस्र उत्तरतः। एकां मध्ये। ततो वै स प्र यशो ज्यैष्ठ्यमाप्नोत्।[१२]

इन्द्र ने ज्येष्ठता प्राप्त करने के लिए चिति को ऊर्ध्वमुखी बनाया था। ऊर्ध्वाचिति में एक ईंट के उपर एक को क्रमशः रखने का विधान है। यथा -

अथ हैनमिन्द्रो ज्यैष्ठ्यकामः। ऊर्ध्वा एवोपदधे। ततो वै स ज्यैष्ठ्यमगच्छत्। ज्यैष्ठ्यं गच्छति। योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते। य उ चैनं वेद।[१३]

स्वर्ग की इच्छा में आदित्य ने चिति की रचना प्राङ्मुखी की थी। प्राङ्मुखी चिति में नाभिस्थान में एक के बाद एक सभी ईंटों का आधान क्रमशः पूर्व की ओर किया जाता है। यथा -

अथ हैनमसावादित्यः स्वर्गकामः। प्राचीरेवोपदधे। ततो वै सोऽभिस्वर्गं लोकमजयत्। अभि स्वर्गं लोकं जयति॥ योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते। य उ चैनं वेद।[१४]

नाचिकेताग्नि का कई रूपों में वर्णन किया गया है। नाचिकेताग्नि संवत्सर है। वसन्त ऋतु इसका शिर है। ग्रीष्म एवं वर्षा ऋतु इस अग्नि के दक्षिण और उत्तर पंख हैं। शरद् इसकी पूंछ है। महीने इस अग्नि में प्रयोजित ऋत्विक् हैं। दिन और रात इस संवत्सर-नाचिकेत के शतरुद्रिय होम हैं। पर्जन्य इसकी वसोर्धारा है। यथा -

संवत्सरो वा अग्निर्नाचिकेतः। तस्य वसन्तः शिरः। ग्रीष्मो

---

[१२]वहीं

[१३]वहीं

[१४]वहीं

दक्षिण:पक्षः। वर्षा उत्तरः। शरत्पुच्छम्। मासाः कर्मकाराः। अहोरात्रे शतरुद्रीयम्। पर्जन्यो वसोर्धारा।[१५]

अन्य प्रकार से भी नाचिकेत को संवत्सर के रूप में वर्णित किया गया है। यथा -

संवत्सरो वा अग्निर्नाचिकेतः। तस्य वसन्तः शिरः। ग्रीष्मो दक्षिणः पक्षः। वर्षा पुच्छम्। शरत् उत्तरः पक्षः। हेमन्तो मध्यम्। पूर्व पक्षाश्चितयः। अपरपक्षाः पुरीषम्। अहोरात्राणि इष्टकाः। एष वाव सोऽग्निरग्निमयः पुनर्णवः।[१६]

नाचिकेताग्नि को वायु पक्षी के रूप में भी वर्णित किया गया है। पूर्वाभिमुख प्रवाहित वायु नाचिकेताग्नि का शिर है। दक्षिणी वायु इसका दक्षिण पंख और उत्तरी वायु इसका वाम पंख है।

पश्चिमी वायु इस अग्नि का पूंछ है। जो वायु एकत्र होकर प्रवाहित होता है, वह इस अग्नि रूपी पक्षी के पंखों का संकोचन और प्रसारण है। नाचिकेताग्नि के इस रूप से सकल कामनाओं की सिद्धि होती है। यथा -

अयं वाव यः पवते। सोऽग्निर्नाचिकेतः। स यत्प्राङ् पवते। तदस्य शिरः। अथ यद् दक्षिणा। स दक्षिणः पक्षः। अथ यत्प्रत्यक्। तत्पुच्छम्। यदुदङ्। स उत्तरः पक्षः। अथ यत्संवाति। तदस्य समंचनं च प्रसारणं च। अथो संपदेवास्य सा। [१७]

सम्पूर्ण कर्मकाण्ड किसी न किसी रूप में अपने अन्दर किसी न किसी रहस्य को छिपाये हुए है। कर्मकाण्ड की प्रत्येक क्रिया और पदार्थ किसी प्राकृतिक या अलौकिक वस्तु का प्रतीक है। इसके विषय में स्वयं

---

[१५]तैत्तिरीयब्राह्मण, ३काण्ड, प्रपाठक११, अनुवाक१०

[१६]वहीं

[१७]तैत्तिरीयब्राह्मण, ३काण्ड, प्रपाठक११, अनुवाक७

ब्राह्मणकार का वचन प्रमाण है, जब वे इक्कीस ईंटों को इक्कीस प्राकृतिक तत्त्वों का प्रतीक कहते हैं।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस नाचिकेताग्नि के चयन का प्रत्यायनीय क्या है? क्योंकि प्रत्यायनीय को समझे विना ब्राह्मण का विषय समाप्त नहीं होता है। इस का संकेत कठोपनिषद् में ही प्राप्त होता है। जब यम कहते हैं कि जो त्रि-नाचिकेत होगा, अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ - इन तीन आश्रमों में उपासना करेगा, वह तीनों संधियों से पार होकर, तीनों कर्मों को करके जन्म और मृत्यु को तर जायेगा। जो व्यक्ति दिव्य गुणों से युक्त स्तुति के योग्य ब्रह्मयज्ञ को जान जाता है, उसके विषय में निश्चय कर लेता है। वह अत्यन्त शान्ति को प्राप्त होता है।[१८] यथा -

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्यसन्धिं त्रिकर्मकृत् तरति जन्ममृत्यू। ब्रह्मज (य) ज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥[१९]

नाचिकेताग्नि के चयन में प्रयुक्त इक्कीस स्वर्णमयी ईंटें प्रकृति के विभिन्न तत्त्वों के चिन्तन की ओर प्रेरित करती हैं। प्रत्येक तत्त्व की सत्ता के विषय में चिन्तन करते हुए हम धीरे धीरे परम तत्त्व की सत्ता का अनुभव करें। ईंटों की चयन पद्धति में जो वैभिन्न्य प्राप्त होता है, वह कहीं न कहीं इस बात का प्रतीक है कि उस परम तत्त्व की अनुभूति का कोई एक मार्ग नहीं है, अपितु उस परम सत्ता की अनुभूति को प्राप्त करने के अनेक मार्ग हैं।

नाचिकेताग्नि को संवत्सर और वायु पक्षी के रूप में वर्णित करने

---

[१८]द्रष्टव्य एकादशोपनिषद् हिन्दी भाष्य, सिद्धान्तालंकार सत्यव्रत

[१९]कठोपनिषद् प्रथमवल्ली श्लोक-१७

का भी यही प्रत्यायनीय प्रतीत होता है कि जिस प्रकार अनेक तत्त्वों के संयोग से एवं समय के साथ संवत्सर और वायुरूपी पक्षी अपनी परिपूर्णता को प्राप्त करते हैं। उसी प्रकार व्यक्ति भी अपने जीवन में यज्ञ, जप तपादि कर्मकाण्डों का अनुष्ठान करते हुए धीरे धीरे आत्मज्ञान की नाचिकेताग्नि का चयन करने में समर्थ हो जाता है। जिसे प्राप्त कर वह स्वर्ग का अधिकारी बन जाता है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में वर्णित अग्न्याधानविधि

डॉ. विनोद कुमार[1]

तैत्तिरीय ब्राह्मण, कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध है। परम्परा से तैत्तिरीय ब्राह्मण के प्रवक्ता के रूप में वैशम्पायन के शिष्य तित्तिरि की प्रसिद्धि है। नाम से भी यही स्पष्ट हो रहा है। यद्यपि भाष्यकार भट्टभास्कर इसके अन्तर्गत सम्मिलित काठक भाग के प्रवचन का श्रेय ऋषि काठक को देते हैं[2]। परम्परा के अनुसार माना जाता है कि दक्षिण भारत में आन्ध्रप्रदेश, नर्मदा की दक्षिण तथा आग्नेयी दिशा एवं गोदावरी के तटवर्ती प्रदेशों में तैत्तिरीय शाखा का प्रचलन रहा है। कहा जाता है कि सुप्रसिद्ध भाष्यकार सायणाचार्य की अपनी यही शाखा थी इसलिए ब्राह्मणग्रन्थों में सर्वप्रथम उन्होंने इसी पर अपना भाष्य लिखा। सम्पूर्ण तैत्तिरीय ब्राह्मण तीन काण्ड अथवा तीन अष्टकों में विभक्त है। प्रथम दो काण्डों में आठ-आठ अध्याय अथवा प्रपाठक हैं जबकि तृतीय काण्ड में बारह अध्याय या प्रपाठक हैं। प्रत्येक अध्याय या प्रपाठक अनुवाकों में विभक्त है, जिनकी संख्या ३५३ है। भट्टभास्कर ने अपने भाष्य में अनुवाकों को प्रश्न नाम दिया है। कृष्णयजुर्वेदीय शाखाओं में एकमात्र

[1] **सहायक आचार्य, राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, काँधला, उ.प्र.**

[2] एवमश्वमेधान्तानि तित्तिरिप्रोक्तानि काण्डानि व्याख्यातानि। अथकाठकाग्निकाण्डान्यष्टौ। तैत्तिरीय ब्राह्मण, काण्ड ३, अध्याय १, अनुवाक १

यही ब्राह्मण अद्यावधि सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध है। किञ्च यह शाखा भी अपने आप में पूर्ण कही जा सकती है क्योंकि इस शाखा के संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, श्रौतसूत्र तथा गृह्यसूत्र आदि सभी ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण के प्रथम काण्ड में अग्न्याधानविधि का वर्णन प्राप्त होता है। यद्यपि यजुर्वेद संहिता के आरम्भिक मन्त्र दर्शपौर्णमास याग में विनियुक्त हैं अतः तैत्तिरीय ब्राह्मण में पहले पुरोडाशपाक का विधान होना चाहिए था किन्तु दर्शपौर्णमासादि याग अग्नि के द्वारा साध्य होने के कारण यहाँ प्रथम अग्न्याधानविधि कही गयी है। सर्वप्रथम यहाँ अग्न्याधान का विशेष काल सुनिश्चित करते हुए कहा गया है कि जिस दिन कृत्तिका नक्षत्र चन्द्रमा से संयुक्त हो उस दिन अग्न्याधान करना चाहिए। चूँकि कृत्तिका ही अग्निसम्बन्धी नक्षत्र है और स्वरूपभूत देवता में ही आधान करना चाहिए अतः आधेय अग्नि का कृत्तिका नक्षत्र में आधान किया जाता है-

'कृत्तिकास्वग्निमादधीत। एतद्वा अग्नेर्नक्षत्रम्। यत्कृत्तिकाः। स्वायामेवैनं देवतायामाधायब्रह्मवर्चसी भवतिइति'[३]।

वस्तुतः अग्न्याधान के काल-विशेष के सम्बन्ध में विशेषज्ञों ने यजमान की कामनाओं के अनुरूप भिन्न-भिन्न नक्षत्र में अग्न्याधान का विधान किया है। जो यजमान सभी मनुष्यों मेंप्रमुख या श्रेष्ठ होना चाहता है, उसे कृत्तिका नक्षत्र में अग्न्याधान करना चाहिए। क्योंकि नक्षत्रों में प्रमुख कृत्तिका नक्षत्र होने के कारण, कृत्तिका में ही अग्न्याधान करने से यजमान सभी मनुष्यों में स्वयं मुख्य हो जाता है- **'मुखं वा**

[३] तैत्तिरीय ब्राह्मण, का.१, अ.१, अनु.२, कण्डिका.१

एतन्नक्षत्राणाम्। यत्कृत्तिकाः। यः कृत्तिकास्वग्निमाधत्ते। मुख्य एव भवति इति'[४]**।** जबकि कतिपय विषय विशेषज्ञ इस नक्षत्र में अग्न्याधान का निषेध करते हैं कि कृत्तिका नक्षत्र में अग्न्याधान करने से वह अग्नि यजमान के घरों को जलाने वाला होता है। अतः इनका कथन है कि समृद्धि की प्राप्ति का इच्छुक यजमान रोहिणी नक्षत्र में अग्न्याधान करे। प्रजापति ने रोहिणी नक्षत्र में ही अग्नि की सृष्टि की तथा सभी देवताओं ने भी रोहिणी नक्षत्र में ही अग्नि का आधान किया जिससे उन्होंने समस्त समृद्धियों को प्राप्त कर लिया। किन्तु जो व्यक्ति पहले धनवान् हो किन्तु किसी कारण से वह निर्धन हो जाए तो उसे पुनर्वसू नक्षत्र में अग्नि का आधान करना चाहिए। इस प्रकार उक्त नक्षत्र में आधान करने से वह फिर से धन को प्राप्त कर सभी के मध्य आदरणीय बन जाता है। लेकिन जिस यजमान की इच्छा हो कि समस्त प्रजा उसको धन या दान देने वाली हो तो ऐसे व्यक्ति (राजा, शासक आदि) को पूर्वाफाल्गुनी नक्षत्र में अग्न्याधान करना चाहिए क्योंकि पूर्वा फाल्गुनी नक्षत्र का देवता अर्यमा है और अर्यमा उसे कहते हैं जो सबको सब कुछ प्रदान करने वाला होता है। अतः उक्त नक्षत्र में अग्नि का आधान करने से यजमान को प्रजा से अत्यधिक धन प्राप्त होता है। किञ्च जो यजमान भगी अर्थात् भगवान् होना चाहता है उसे उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में अग्न्याधान करना चाहिए[५]। भग का तात्पर्य ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य इन छः गुणों से है। जैसा कि कहा गया है-

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा[६] **॥**

---

[४]वही, का.१, अ.१, अनु.२, क.२

[५]वही, का.१, अ.१, अनु.३, क.३-४

[६] (क) वही, सायणभाष्य (ख) विष्णुपुराण, ६/५/७४

अर्थात् जिस व्यक्ति के अन्दर ये छः गुण होते हैं उस व्यक्ति को भगी या भगवान् कहा जा सकता है। अतः भग की इच्छा रखने वाला व्यक्ति उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में अग्न्याधान करता है और भगी हो जाता है। परन्तु जिस यजमान का प्रयोजन अपने शत्रुओं से मुक्ति प्राप्त करना है उसे चित्रा नक्षत्र में अग्नि का आधान करना चाहिए। उक्त नक्षत्र में अग्न्याधान करने से व्यक्ति अपने शत्रुओं का विनाश कर ओज, बल, इन्द्रिय सामर्थ्य एवं वीर्य को प्राप्त करता है[७]। उल्लेखनीय है कि जबकाम्य कर्म के रूप में याग में अग्नि का आधान अभीष्ट हो तो यजमान उपर्युक्तानुसार कथित नक्षत्रों में अग्न्याधान करे किन्तु यदि नित्य कर्म के रूप में अग्न्याधान अभीष्ट हो तो उसे उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र में अग्नि का आधान करना चाहिए। क्योंकि उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र फाल्गुन मास की पूर्णिमा के उपरान्त अग्रिम संवत्सर की आरम्भिक अवस्था में होता है अतः उक्त नक्षत्र में अग्नि का आधान करने से व्यक्ति पुण्यशाली या धनवान् हो जाता है[८]।

नक्षत्रविशेष में अग्न्याधानविधि का वर्णन कर ऋषि अधिकारी के भेद से ऋतुओं के अनुसार अग्न्याधान का काल निर्धारित करते हुए लिखते हैं कि वसन्त ऋतु में ब्राह्मण को अग्न्याधान करना चाहिए। चूँकि वसन्त ऋतुओं में प्रथम एवं सर्वप्रमुख है अतः इस ऋतु में आधान करने से व्यक्ति सभी मनुष्यों में प्रमुख स्थान पाता है। क्षत्रिय को ग्रीष्म ऋतु में अग्न्याधान करना चाहिए क्योंकि ग्रीष्म ऋतु क्षत्रिय की है। इस ऋतु में अग्न्याधान करने से यजमान ओज, बलादि इन्द्रियसामर्थ्य प्राप्त करता है।

---

[७] वही, का.१, अ.१, अनु.५, क.५

[८] वही, का.१, अ.१, अनु.५, क.८

वैश्य को शरद् ऋतु में अग्न्याधान करना चाहिए क्योंकि शरद् वैश्य की ऋतु है। शरद् ऋतु में जो अग्न्याधान करता है वह पशुओं को प्राप्त करता है[९]। उल्लेखनीय है कि यहाँ शूद्र को भी अग्न्याधान करने का अधिकार प्राप्त है। क्योंकि यहाँ रथकार को अग्न्याधान करने का दिशानिर्देश प्राप्त होता है, जो कि शूद्रवर्ण के अन्तर्गत माना जाता है- **'ऋभूणां त्वा देवानां व्रतपते व्रतेनादधामीति रथकारस्य। यथादेवतमग्निराधीयते। न देवताभ्य आवृश्च्यते। वसीयान्भवतिइति'**[१०]।

महर्षि याज्ञवल्क्य स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि रथकार के लिएअग्न्याधान की ऋतु वर्षा है- **'तस्य च रथकारस्याधानकालो वर्षर्तुः।** यहाँ सायणाचार्य ने भी **रथं करोतीति रथकारः** इस व्युत्पत्ति के आधार पर रथकार को त्रैवर्णिक न मानकर संकीर्णजाति वाला माना है[११] क्योंकि वैश्य स्त्री में क्षत्रिय से उत्पन्न सन्तान माहिष्य कहलाती है और वैश्य से शूद्रा स्त्री में उत्पन्न सन्तान करिणी। उस करिणी में माहिष्य से उत्पन्न सन्तान को रथकार कहा जाता है-

'माहिष्येण करिण्यां तु रथकारः प्रजायते'[१२]।

नक्षत्र एवं ऋतुकाल विशेष का निर्देश कर अग्न्याधानविधि के अन्तर्गत देवयजन स्थान परपार्थिव एवं वानस्पत्य द्विविध संभारों का प्रक्षेपण किया जाता है, जो कि निम्नलिखित हैं -

पार्थिव संभार - १. सिकतानिवपन, २. ऊषानिवपन, ३. आखुकरीषम्, ४. वल्मीकवपा, ५. कर्दम, ६. शर्करा, ७. हिरण्य।

---

[९]वही, का.१, अ.१, अनु.५, क.६-७

[१०]वही, का.१, अ.१, अनु.४, क.८

[११]वही, सायणभाष्य

[१२]याज्ञवल्क्य स्मृति, अध्याय१, प्रकरण४, श्लोक ९५

वानस्पत्य संभार - १. अश्वत्थ, २. उदुम्बर, ३. पलाश, ४. शमी, ५. विकङ्कत, ६. अशनिहत वृक्ष, ७. पुष्करपर्ण[१३]।

सामान्यरूप से आजकल एक ही अग्नि में अग्निहोत्र किया जाता है लेकिन प्राचीन-काल में वैदिक अग्निहोत्र तीन अग्नियों में किया जाता था। जो तीनों अग्नियों का विधिवत् आधान कर नित्य अग्निहोत्र कर्म करता है उसे आहिताग्नि कहा जाता है। पूर्व दिशा में आहवनीयाग्नि की स्थापना की जाती है, पश्चिम दिशा में गार्हपत्य अग्नि तथा दक्षिण दिशा में दक्षिणाग्नि की स्थापना होती है। दक्षिणाग्नि का दूसरा नाम अन्वाहार्यपचन भी है। आहवनीयाग्नि के उत्तर में आवसथ्य एवं दक्षिण में सभ्य नामक दो अग्नियाँ और प्रज्वलित की जाती हैं। मुख्य याग आहवनीय अग्नि में किया जाता है। पाँचों अग्नियों के नामकरण पर प्रकाश डालते हुए ऋषि कहते हैं कि दर्शपौर्णमासकर्म में ऋत्विजों के लिए ओदन दक्षिणाग्नि में पकाया जाता है इसलिए उसका नाम अन्वाहार्यपचन है। गार्हपत्य में आज्य का आश्रय लेकर देवपत्नियों का यजन करते हैं अतः पत्नी के सम्बन्ध से गृहपति के संयुक्त होने से इसका नाम गार्हपत्य अग्नि है। प्रधान आहुति इसमें दी जाती है। उस सम्बन्ध से इसका नाम आहवनीय अग्नि है। इससे सभा में विजय प्राप्त होती है अतः इसका नाम सभ्य अग्नि है। आवसथ घर को कहते हैं अतः उसमें अन्न को संस्कृत कर सभासदों के लिए ले जाने के कारण उसका नाम आवसथ्य अग्नि है[१४]। प्रथम बार मन्थ एवं अरणि उपकरणों के द्वारा मन्थन कर अग्नि को उत्पन्न किया जाता है तत्पश्चात् उपर्युक्त तीनों अग्नियों में आधान करते हुए अग्नि

---

[१३] तैत्तिरीय ब्राह्मण, का.१,अ.१,अनु.३

[१४] वही, का.१,अ.१,अनु.१०,क.५-६

को सुरक्षित रखा जाता है। ऋषि तित्तिरि के अनुसार अग्न्याधान से पूर्व वाले दिन ब्रह्मोदन पकाकर उस अग्नि की भस्म लेकर देवयजन स्थान पर शमी की अरणि से अग्निमन्थन कर गार्हपत्याग्नि प्रज्वलित करनी चाहिए- **'श्व आधास्यमानो ब्रह्मौदनं पचति ....अपोदूह्य भस्माग्निं मन्थति। सैव साग्नेः सन्ततिः। तं मन्थित्वा प्राञ्चमुद्धरति[१५]। शमीगर्भादग्निं मन्थति। एषा वा अग्नेर्यज्ञिया तनूः। तामेवास्मै जनयति'[१६]।**

यदि आहित अग्नि किसी कारणवश सुरक्षित न रह सके तो पुनः मन्थ एवं अरणि के द्वारा मन्थन कर अग्नि को उत्पन्न कर लिया जाता है। यदि आहिताग्नि व्यक्ति को अपने निवास स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान पर जाना पडे तो उन अग्नियों के आधान की जिम्मेदारी किसी दूसरे व्यक्ति को सौंप कर जाए, जिस प्रकार लोक में कोई गृहस्वामी घर में निवास करने वाले किसी अन्य समझदार व्यक्ति को घर की रक्षा का दायित्व सौंपकर चला जाता है। वापस आने के बाद आहिताग्नि को पुनः स्वयं अग्नियों का उपस्थान करना चाहिए। इस प्रकार अग्नि अविभक्त रहती है और ऊर्ध्वगामी होकर रोहिणी हो जाती है। रोहिणी में अग्न्याधान करने से आधाता समृद्धि एवं प्रतिष्ठा को प्राप्त कर लेता है-

'प्रवसथमेष्यन्नेवमुपतिष्ठतैकमेकम्। यथा ब्राह्मणाय गृहवासिने परिदाय गृहानेति तादृगेव तत्इति। पुनरागत्योपतिष्ठते। साभागेयमेवैषां तत् सा तत ऊर्ध्वारोहत्.......'[१७]।

प्रथम प्रपाठक के चतुर्थ अनुवाक में ऋषि तित्तिरि सर्वप्रथम गार्हपत्य एवं आहवनीय का विधान करते हुए लिखते हैं कि रात्रिकाल में

---

[१५]वही, का.१, अ.१,अनु.९,क.८

[१६]वही, का.१,अ.१,अनु९,क.१.

[१७]वही, का.१,अ.१,अनु.१०,क.७

गार्हपत्य अग्नि का आधान किया जाता है जबकि दिन में अर्धोदय के समय आहवनीय अग्नि का आधान किया जाता है-

नक्तं गार्हपत्यमादधाति। पशूनेवावरुन्द्धे। दिवाहवनीयम्। इन्द्रियमेवावरुन्द्धे, इति। अर्धोदिते सूर्य आहवनीयमादधाति[१८]।

इनका मत है कि गार्हपत्य से १२ पद दूर मापकर आहवनीय अग्नि का आधान करना चाहिए। यहाँ १२ पद बारह महीनों एवं संवत्सर के प्रतीक हैं। किन्तु अन्य विषय विशेषज्ञ दोनों अग्नियों के मध्य की दूरी को पद से मापने का निषेध करते हैं। उनका कथन है कि पद से मापने से स्थान परिमित हो जाता है किन्तु चक्षुओं से देखते हुए अनुमान द्वारा १२ पद मापकर आहवनीयाग्नि की स्थापना करनी चाहिए। इससे परिमितिदोष भी निवृत्त हो जाता है और चक्षु से देखा हुआ कभी असत्य नहीं होता। जबकि मनुष्य वाणी से असत्य बोल सकता है और मन से भी असत्य का ध्यान कर सकता है। इसलिए चक्षुद्वारा आधान करने का तात्पर्य सत्य का आधान करना ही है। इसी कारण आहिताग्नि को कभी असत्य नहीं बोलना चाहिए[१९]। उल्लेखनीय है कि तीनों अग्नियों की स्थापना किस क्रम में हो इस विषय में मतभेद है। इड़ा एवं मनु के आख्यान से पता चलता है कि राक्षसों ने आहवनीयाग्नि का आधान सर्वप्रथम कर तत्पश्चात् गार्हपत्य एवं उसके बाद दक्षिणाग्नि का आधान किया इसलिए वे पराभव को प्राप्त हुए। अतः जो यजमान इस क्रम से प्रथम आहवनीयाग्नि का आधान करता है, वह पराभव को प्राप्त होता है। लेकिन इसके विपरीत जो पहले दक्षिणाग्नि तदनन्तर गार्हपत्याग्नि एवं

---

[१८]वही, का.१,अ.१,अनु.४,क.३

[१९]वही, का.१,अ.१,अनु.४,क.२

अन्त में आहवनीयाग्नि का आधान करता है, उसको स्वर्ग तो प्राप्त हो जाता है किन्तु प्रजा प्राप्त नहीं होतीऔर जो यजमान प्रथम गार्हपत्य का आधान करने के उपरान्त दक्षिणाग्नि एवं तत्पश्चात् आहवनीयाग्नि का आधान करता है, उसे प्रजा, पशु और मनुष्य लोक में प्रतिष्ठा प्राप्त होती है साथ ही आहवनीयाग्नि के द्वारा स्वर्गलोक की भी प्राप्ति होती है[२०]। **'भूर्भुवः स्वः'** इस महाव्याहृति के द्वारा आहवनीयाग्नि का आधान किया जाता है। इस मन्त्र के सामर्थ्य से यजमान प्रजा (पुत्र-पौत्रादिक) मनुष्यलोक तथा स्वर्गलोक में प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है। जबकि **'भूर्भुवः'** इन तीन अक्षरों से गार्हपत्य अग्नि का आधान किया जाता है, जिससे यजमान तीनों लोकों में प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेता है[२१]।

यहाँ तीन अग्नियों में आधान करने का औचित्य प्रतिपादित करते हुए ऋषि लिखते हैं कि प्रजापति ने अग्नि की सृष्टि कर उसकी दाहात्मकता को कम करने के लिए उसको तीन भागों में विभक्त कर दिया-

'प्रजापतिरग्निमसृजत। सोऽबिभेत्प्रमाधक्ष्यतीति। तस्यत्रेधामहिमानंव्यौहत्। शान्त्याअप्रदाहाय। यत्त्रेधाग्निराधीयते। महिमानमेवास्यतद्व्यूहति। शान्त्याअप्रदाहायइति'[२२]।

जिसमें गार्हपत्य से एक भाग आहवनीय के लिए तथा दूसरा भाग दक्षिणाग्नि के लिए सुनिश्चित किया गया। क्योंकि त्रिविध विभाग करने से अग्नि की जो महिमा शान्त हुई थी उसको पुनः प्राप्त करने के लिए गार्हपत्य से आहवनीय अग्नि में अग्न्याधान किया जाता है। आगे

[२०] वही, का.१,अ.१,अनु.४,क.४-६

[२१] वही, का.१,अ.१,अनु.५,क.२-३

[२२] वही, का.१,अ.१,अनु.९,क.७-८

आहवनीय अग्नि का पार्श्वभाग में आधान करने का कारण प्रतीकात्मक ढंग से प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि गार्हपत्य से जिस अश्व को आगे करके यजमान चला था वह अश्व, पशु है और जो अग्नि है वह रुद्र है। इस सम्पूर्ण प्रसंग में सायण द्वारा अश्व को घोड़ा नामक पशु मानना उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि '**अश्नुते व्याप्नुते**' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अश्व नाम अग्नि का है। इस अर्थ से निम्नलिखित कथानक भी हास्यास्पद नहीं ठहरता कि '**प्रजापतेरक्ष्यश्वयत्। तत्परापतत्। तदश्वोऽभवत्**'[२३] (प्रजापति की आँख एक बार किसी व्याधि के द्वारा कटकर भूमि पर गिर गयी, और घोड़ा बन गयी- सायण) वस्तुतः यहाँ प्रजापति विराडग्नि है उसकी आँख अर्थात् एक भाग पृथक् होकर अश्व अर्थात् अग्नि बन गया। यही बात ऋषि स्वयं आगे स्पष्ट करते हैं कि यह प्रजापति भी अग्नि है और यह अश्व प्राजापत्य अग्नि है-

'**एष वै प्रजापतिः। यदग्निः। प्राजापत्योऽश्वः। यदश्वं पुरस्तान्नयति। स्वमेव चक्षुः पश्यन्प्रजापतिरनूदेति।**'

कहने का तात्पर्य यह है कि गार्हपत्य से आहवनीय अग्नि का आधान करने की विधि यहाँ बताई गयी है कि विराडग्नि प्रजापति है। अतः उसके अश्व नामक एक भाग को आगे या ऊर्ध्व करके यजमान आहवनीय की स्थापना हेतु जाता है। इस प्रकार प्रजापति अर्थात् विराडग्नि अपनी ही चक्षु से देखता हुआ अनुगमन करता है। यदि विराडग्नि में अश्व नामक अग्नि को मिला दिया जाए तो दाहात्मकता वृद्धि की समस्या रहेगी। यदि अग्नि का आधान न करें तो पश्वादि फल की प्राप्ति नहीं होगी। अतः पार्श्व भाग में अपर अग्नि (आहवनीय) का

---

[२३] वही, का.१,अ.१,अनु.९,क.४-५

आधान करने का विधान किया गया है[२४]। गार्हपत्य से आहवनीय आयतन तक अग्नि को ऊर्ध्व करके क्यों ले जाया जाए इसको बताने हेतु ऋषि आख्यान कथन करते हैं-

'प्रजापति ने प्रजा की सृष्टि की। लेकिन उत्पन्न होने के बाद प्रजा, प्रजापति से दूर भागने लगी। तब प्रजापति ने उनसे ज्योति निकाल ली। अब उस ज्योति को देखते हुए सारी प्रजा पुनः उनके पास एकत्र हो गयी।' इस आध्यात्मिक भाव को प्रकट करने हेतु प्रथम आहित गार्हपत्य अग्नि से आहवनीयाग्नि को प्रज्वलित करने के लिए यजमान ज्योति (अग्नि) को ऊर्ध्व की ओर ग्रहण करके जाए इससे सारी प्रजा ज्योति को देखते हुए यजमान की ओर लौट आती है। अब प्रजापति ने (विराडग्नि) गार्हपत्य एवं आहवनीय का भेद करने में असमर्थ होने पर स्वयंपूर्ववाड् होकर पूर्वदिशा में आहवनीय अग्नि को स्थापित कर दिया-

'न्याहवनीयो गार्हपत्यमकामयत। नि गार्हपत्य आहवनीयम्। तौ विभाजं नाशक्नोत्। सोऽश्वःपूर्ववाड् भूत्वा प्राञ्चं पूर्वमुदवहत्.......[२५]।

इस प्रकार तीनों अग्नियाँ गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि एवं आहवनीय क्रमशः यजमान को पवित्र करने वाली, अन्नाद्यतथा ब्रह्मवर्चस् की प्राप्ति कराने वाली होती हैं अर्थात् तीनों अग्नियाँ इस बात की प्रतीक हैं कि त्रिविध योग्यता प्राप्त किए बिना मनुष्य-जीवन सफल नहीं हो सकता। गार्हपत्य अग्नि के आधान से मनुष्य पवित्र होता है, पवित्र होने के उपरान्त दक्षिणाग्नि से वह अन्नादि (भौतिक संसाधन) प्राप्त कर लेता है और अन्त में आहवनीय के द्वारा ब्रह्मतेज से युक्त होता हुआ जीवन के

---

[२४]वही, का.१,अ.१,अनु.९,क.८-९

[२५]वही, का.१,अ.१,अनु.९,क.६

परमलक्ष्य ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है-

‘अग्नये पवमानाय। अग्नये पावकाय। अग्नये शुचये। यदग्नये पवमानाय निर्वपति। पुनात्येवैनम्। यदग्नये पावकाय पूत एवास्मिन्नन्नाद्यं दधाति। यदग्नये शुचये। ब्रह्मवर्चसमेवास्मिन्नुपरिष्टाद्दधाति[२६]।’

[२६]वही, का.१,अ.१,अनु.५,क.१०

तैत्तिरीय ब्राह्मण में आचारमीमांसा

डॉ. नन्दिनी रघुवंशी[१]

सर्वसुख उपभोगवादी सभ्यता के इस युग में यन्त्रों के प्रयोग बाहुल्य से मनुष्य भी किञ्चित् यन्त्रवत् हो गया है। आधुनिक वैज्ञानिक युग में आर्थिक कल्याण और भौतिक सुखों की प्राप्ति ही परम मूल्य के रूप में ख्यापित हो चुकी है। यही कारण है कि मनुष्यों के द्वारा नैतिक मूल्यों के स्थान पर धन को ही सर्वोच्च मानवीय मूल्य माना जाने लगा है। परम्परा से आचरित हमारी संस्कृति के प्राणरूप पुरुषार्थ-चतुष्टय आज उपेक्षित हो गए हैं। सम्प्रति मनुष्य के नैतिक मूल्यों में अत्यधिक ह्रास हो जाने से सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं शैक्षणिक स्तर पर भी मूल्यों में विघटन हो रहा है। जो वस्तुतः न तो विश्व के लिए हितकर है और न ही वैयक्तिक रूप से। इसलिए स्वघोषित तथाकथित मूल्यों को पा लेने के पश्चात् भी जीवन में रिक्तता ही रिक्तता अनुभूत होती है। अपनी संस्कृति, सभ्यता एवं साहित्य से परिचय न होने के कारण मनुष्य आजीवन उस रिक्तता का अनुभव करता हुआ भी उसे पहचान नहीं पाता। जीवन की इस रिक्तता की पूर्ति हेतु हमें आगे नहीं अपितु पीछे लौटना होगा वैदिक साहित्य की ओर। हमारे पूजनीय ऋषि-मुनियों की

[१] **सहायकाचार्या, संस्कृत विभाग, दयालबाग मानित विश्वविद्यालय, दयालबाग, आगरा**

कठोर तपस्या एवं आजीवन विलोडित किए गए सद्विचारों का सार है यह वाङ्मय। वैदिक वाङ्मय को यदि जीवन का सर्वस्व कहें तो यह अतिशयोक्ति नहीं होगी, क्योंकि जीवन से संबंधित सभी प्रकार की सामग्री इसमें उपलब्ध है। समग्र वैदिक वाङ्मय मानव जीवन को आचार विचार से शुद्ध बनाने के लिए समर्पित है। इन सद्विचारों पर आचरण करता हुआ मनुष्य ज्ञान, आशा, शुद्ध विचारों से आत्मोत्थान करता हुआ अपनी आसुरी प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त कर सकता है।

ऐसे ही आत्मोत्थान में सहायक वैदिक वाङ्मय का ही भाग हैं ब्राह्मण ग्रन्थ। उत्तरवैदिक युग में संहिताओं के दुर्बोध होने से उनकी विशद व्याख्या की आवश्यकता प्रतीत हुई। अतः वेद मंत्रों की सुगम व्याख्या, यज्ञीय विधि-विधानों के अतिसूक्ष्म निरूपण की भावना प्रमुख रूप से ब्राह्मण ग्रन्थों के उद्भावन में सहायक बनी। ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विविध यज्ञों का साङ्गोपाङ्ग निरूपण है। इन्हीं के माध्यम से यह ग्रन्थ मनुष्य को कर्मानुष्ठानों में प्रेरित करते हैं। कहा भी है - **कर्मचोदना ब्राह्मणानि**[२]। अर्थात् कर्म में प्रेरित करने वाले ग्रन्थ ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। सूत्र में कर्म का अभिप्राय यज्ञ कर्म है परन्तु यदि हम इस कर्म शब्द की व्याख्या दैनिक जीवन के कर्म करें तो भी अनुचित न होगा, क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों में पदे पदे यज्ञ-व्याख्या के साथ जीवनोपयोगी सूत्र विद्यमान हैं।

सभी वेदों के अपने-अपने ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण कृष्णयजुर्वेद का भाग है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में तीन काण्ड अथवा अष्टक हैं। प्रारंभिक दो काण्डो में आठ-आठ अध्याय तथा तृतीय काण्ड में १२

[२] आपस्तम्ब यज्ञपरिभाषा सूत्र -३५

प्रपाठक हैं। वैशम्पायन के शिष्य तित्तिरि इस ब्राह्मण के प्रवक्ता के रूप में विख्यात हैं। विविध यागों की विधियों तथा आख्यानों के माध्यम से जीवन को सुजीवन बनाने के सूत्र इस ब्राह्मण में विद्यमान हैं। यह वे दैनन्दिन सूत्र हैं जो मनुष्य को देवत्व की सिद्धि प्राप्त कराने का सामर्थ्य रखते हैं। इस ब्राह्मण में वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक, एवं धार्मिक जीवन के विविध पक्षों पर संदर्भित श्रेष्ठ आचार का प्रतिपादन पदे-पदे हुआ है। इसके अनुसार मनुष्य का आचरण देवताओं के समान होना चाहिए- **इति देवा अकुर्वत। इत्यु वै मनुष्याः कुर्वते**[३]। क्योंकि देवत्व ही मनुष्य को उन्नति के मार्ग तक ले जाता है-

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद् भद्रं तन्न आसुव[४] ॥

देवत्व के लिए दुर्गुणों का त्याग सर्वप्रथम अपेक्षित है। अतः दुर्गुण निवारण एवं सद्गुण संस्थापन से मनुष्य देवत्व की ओर अग्रसर होता है। हे जगदुत्पादक परमदेव! आप हमारे सभी दुर्गुणों को दूर कर जो भी कल्याणकारी गुण हैं उनको हमारे अन्दर प्रेरित कीजिए। क्योंकि तैत्तिरीय ब्राह्मण में सत्य की महिमा का अत्यधिक वर्णन है इनके अनुसार सत्य और ऋत एक ही तत्व हैं- **तद्दतं तत्सत्यम्**[५]। शतपथ ब्राह्मण में भी ऋत और सत्य एक ही है- **ऋतं सत्यमृतं सत्यम्**[६]। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार सत्य नेत्र का विषय है अर्थात् वही सत्य है जो नेत्रों से देखकर बोला जाए, क्योंकि वाणी झूठ बोल सकती है और मन मिथ्या ध्यान कर सकता है

---

[३] तै.ब्रा. १.५.९.४

[४] तै.ब्रा. २.४.६.३

[५] तै.ब्रा. ११.५.५.४

[६] शत.ब्रा.६.४.४.१०

इसलिए नेत्रदृष्ट सत्य ही विश्वसनीय है। असत्य से सत्य की ओर प्रयाण कर मनुष्य देवत्व प्राप्त कर सकता है । कहा भी गया है-

ऋतमेव परमेष्ठि।ऋतं नात्येति किञ्चन। ऋते समुद्र आहितः। ऋते भूमिरियं श्रिता[७]।

अनृतात् सत्यमुपैमि। मानुषाद् दैव्यमुपैमि। दैवीवाचं यच्छामि[८]।

ऐतरेय ब्राह्मण में मन का अति उच्च स्थान है। मनःशुद्धि के लिए बहुविध कामनाओं का परित्याग आवश्यक है क्योंकि ये समुद्र की भाँति अपार हैं- **समुद्र इव कामः, नैव हि कामस्यान्तोऽस्ति**[९]। मन प्रजापति है उसी के द्वारा सभी क्रियाएं संपन्न होती हैं[१०]। मन के साथ-साथ प्राण और वाणी की भी महत्ता तैत्तिरीय ब्राह्मण में बतलाई गई है[११]। कृष्ण यजुर्वेद ब्राह्मण के अनुसार सृष्टि से पूर्व अन्य वस्तु की सत्ता नहीं थी। अनभिव्यक्त असत् की सत् रूप होने की इच्छा थी-

तदसदेवस सन्मनोऽकुरुत स्यामिति[१२]।

असत् के तपस्वरूप धूम्र-ज्योति-अग्नि-आर्चि-मरीचि-उदार-अभ्रारि की सृष्टि हुई। तदनन्तर समुद्र, पृथ्वी, अंतरिक्ष, और द्युलोक बने। पुनः तपस्या से मनुष्य देव और ऋतुओं की सृष्टि हुई। सबकी सृष्टि में मन का योगदान सर्वाधिक था। वही ब्रह्म का एक रुप भी है-

---

[७] तै.ब्रा. १.५.५.१

[८] तै.ब्रा. १.२.१

[९] तै.ब्रा.

[१०] (क) मन इव प्रजापतिः - तै.ब्रा. २.२.६.२

(ख) येन पूतस्तरति दुष्कृतानि - तै.ब्रा. ३.१२.३.४

[११] तै.ब्रा. १.३.६.२

[१२] तै.ब्रा. २.२.९.१०

असतोऽधिमानोऽसृज्यत। मनः प्रजापतिः प्रजा असृजत। यदिदं किञ्च तदेतच्छ्वोवस्यं नाम ब्रह्म[१३]।

इस प्रकार प्रजापति ने तप से ही समग्र सृष्टि को बनाया। अतः हम भी तप करें तो सभी अभीष्ट सिद्धियों को प्राप्त कर सकते हैं, यह इसका उपलक्ष्य है। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार तप ही हमें देव बनाता है, तप से ही ऋषियों ने देवों से भी अधिक स्वर्गिक सुख को पाया है, संसार तप पर ही केंद्रित है अतः हमें तप के माहात्म्य को जानते हुए उसका आदर करना चाहिए-

तपसा देवाः देवतामग्र आयन्। तपसर्षयः स्वरस्व विदन्। तपसा सपत्नान् प्रजुदामरातीः[१४]**।**

वर्तमान समय में हर व्यक्ति समय की सीमाओं का अतिक्रमण कर सफलता प्राप्त करना चाहता है, जो कि असंभव है। उसी से व्यक्ति में निराशा का भाव जागृत होता है और व्यक्ति विविध व्याधियों से ग्रसित हो जाता है। ऐसे समय में उक्त सूक्ति हमें धैर्यपूर्वक तप करने की प्रेरणा देती है। प्रकृत ब्राह्मणवचन के अनुसार जो देव हैं दिव्य गुण एवं शक्तियों से सामर्थ्यवान हैं, उन्हें भी स्वर्ग का सुख, तप के माध्यम से ही प्राप्त होता है, हम तो तथापि सामान्य मनुष्य हैं। अतः धैर्यपूर्वक उचित समय की प्रतीक्षा के साथ तप करते हुए हम अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में वाणी का महत्व बताते हुए कहते हैं-" **अशनयापिपासे ह वा उग्रं वचः**"[१५] अर्थात् उग्र वाणी भूख और प्यास

---

[१३] तै.ब्रा. २.२

[१४] तै.ब्रा. ३.१२.३.१

[१५] तै.ब्रा १.५.९.५

की हेतु होने के कारण महापाप के समान है। इसी की पुष्टि शतपथ ब्राह्मण के इस कथन से होती है- "**प्राण एवं हितं वागुपहितम्**"[१६]। अतः वाणी के प्रयोग में हमें बहुत ही सावधान रहना चाहिए। यज्ञ मनुष्य का सर्वस्व है ऐसा तैत्तिरीय ब्राह्मण का मत है। यज्ञ की एक-एक क्रिया मनुष्य को सामञ्जस्य, त्याग एवं कर्मशीलता का संदेश देती है। यज्ञ ही मनुष्य को लौकिक एवं अलौकिक सिद्धियों को प्राप्त कराता है- उक्तं हि-

यज्ञो राये यज्ञ ईशे वसूनाम्। यज्ञः सस्यानुमत सुक्षितीनाम्।[१७]
अयं यज्ञो वर्धतां गोभिरश्वैः। इयं वेदिः स्पत्या सुवीरा।[१८]

अर्थात् यज्ञ समृद्धिदायक है वह हमें वसुओं का स्वामी बनाता है। यज्ञ से ही हमारे गो-अश्वादि की भी वृद्धि होती है। अतः जीवन में सर्वविध सुख प्राप्त कराने का मूलभूत साधन यज्ञ ही है। सभी प्रकार के सत्कर्म करते हुए हमें अपनी कामनाओं को भी वश में रखना चाहिए जिससे हमारा जीवन उच्छृंखलित न हो जाए। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार कामरहित या आप्तकाम व्यक्ति पाप-पुण्य भयादि से मुक्त हो जाता है तथा निर्भय होकर सदाचार एवं सत्कर्मों में व्यस्त रहते हुए अभीष्ट को प्राप्त कर सकता है। यदि ऐसा नहीं होता तो अनियन्त्रित कामनाएँ मनुष्य को ऐसे ही अपने अन्दर समा लेती हैं जैसे अनियंत्रित समुद्र। कहा भी गया है- **समुद्र इव कामाः...**

इस प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण के सकृत् पर्यालोचन से हम इस तथ्य पर पहुंचते हैं कि विविध यागानुष्ठानों से इतर भी ब्राह्मण ग्रन्थ हमारे

---

[१६] श.ब्रा ६.१.२.१५

[१७] तै.ब्रा २.५.५.१

[१८] तै.ब्रा २.५.५.१

दैनन्दिन जीवन के लिए अत्यन्त शिक्षादायक हैं। सुहृत्सम्मित उपदेश शैली से हमें सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हैं। जीवन में आन्तरिक शुचिता एवं बाह्य शुचिता दोनों ही आवश्यक हैं जिनका पोषण दया, सत्य, तप, मनःशुद्धि, सदाचार, संयम तथा दैवाराधन आदि गुणों से होता है। जिनका उपदेश हमें तैत्तिरीय ब्राह्मण में बहुत ही सरल शैली में उपलब्ध होता है। निष्कर्षरूप में हम यह कह सकते हैं कि वैदिककालीन यह ग्रन्थ वर्तमान वैज्ञानिक युग में मनुष्य के सुख प्राप्ति का एक अतुलनीय साधन है, जो हमारे समक्ष एक बृहद् आचारमीमांसा उपस्थापित करता है। परमपिता परमेश्वर से सद्गुणों की प्रार्थना एवं दुर्गुणों का त्याग ही इस ब्राह्मण का ध्येय है-

ओं विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव।
यद् भद्रं तन्न आसुव[११] **॥**

[११] तै.ब्रा. २.४.६.३

तैत्तिरीय ब्राह्मण में अश्वमेध का स्वरूप

डा. उमा शर्मा[१]

वैदिक वाङ्मय में समग्र सामाजिक जीवन का केन्द्रबिन्दु 'यज्ञ' को माना जाता है। शुक्ल यजुर्वेद में कहा गया है- **अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः**।[२] वैदिक वाङ्मय में यज्ञ शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थ में किया गया है किन्तु संक्षेपतः कहा जाये तो प्रत्येक शुभ और श्रेष्ठ कर्म यज्ञ ही है- **यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म**।[३] पुरुष सूक्त में तो विराट् यज्ञपुरुष से सारी सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन है। ऋग्यजुसामादि भी उसी यज्ञ पुरुष से उत्पन्न हुए हैं-

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥[४]

ऋग्वेद के प्रारम्भ में भी यज्ञ के देव अग्नि की स्तुति की गई है-

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥[५]

---

[१] **उपाचार्या, संस्कृत विभाग, एन. ए. एस. कॉलेज, मेरठ**

[२] शुक्ल यजुर्वेद- २३.११

[३] शतपथब्राह्मण- १.७.१.५

[४] ऋग्वेद- १०.९०.९, यजुर्वेद- ३.७

[५] ऋग्वेद- १.१.१

अश्वमेध याग का उल्लेख सर्वप्रथम ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के '१७५, १७३' वें सूक्तों में पुनश्च यजुर्वेद की कृष्ण एवं शुक्ल दोनों ही संहिताओं में सांगोपांग मिलता है।

यजुर्वेद के २२, २५ तथा २९ वें अध्यायों में अश्वमेध का वर्णन है। कृष्ण यजुर्वेद की काठक और मैत्रायणी संहिता में भी अश्वमेधयाग सम्बन्धी मन्त्र अन्तिम काण्डों में विकीर्ण हैं। कृष्ण यजुर्वेदीय तैत्तिरीय शाखा के तैत्तिरीय ब्राह्मण में तृतीय काण्ड के प्रपाठक ८ एवं ९ में 'अश्वमेध' व्यवस्थित रूप में उपलब्ध होता है।

गुणवाचक संज्ञा के सन्दर्भ में अश्व का अर्थ है- '**अश्नुते अध्वानम्**' (तीव्र गति वाला) **अश्नुते व्याप्नोति** (शीघ्रता से सर्वत्र संचरित होने वाला) तथा **बहु अश्नाति इति अश्वः** (बहुत भक्षण करने वाला) होने से अश्व संज्ञा दी जाती है आदि। इस परिभाषा के अनुसार किरणों की, अग्नि की, सूर्य की तथा ईश्वर की अश्व संज्ञा है-

'**सौर्यो वा अश्वः**[६]' '**अग्निर्वाश्वः**[७]' '**अश्वो न देववाहनः**[८]' '**असौ वाऽदित्योऽश्वः**[९]' '**अश्वो यत् ईश्वरो वा अश्वः**[१०]'।

लौकिक सन्दर्भ अश्व शब्द घोड़े के लिए प्रयुक्त होता है। 'मेध' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हुए धातुकोष में लिखा है- **मेधृ मेधा हिंसनयोः संगमे च** अर्थात् मेध शब्द का प्रयोग तीन सन्दर्भों में किया जाता है- (अ) मेध संवर्धन (ब) हिंसा (स) संगम, संगतिकरण, एकीकरण,

---

[६] गोपथब्राह्मण- २.३.१९

[७] शतपथब्राह्मण- ३.६.२.५

[८] ऋग्वेद- ३.२७, १४

[९] तैत्तिरीय ब्राह्मण- ३.९.२३.

[१०] शतपथब्राह्मण- १.३.३.३.५

संगठन आदि। अध्वर (न ध्वरः इति) संज्ञा से अवहित यज्ञ शब्द के पर्यायवाची 'मेध' का अर्थ हिंसा नहीं हो सकता अतः मेध संवर्धन एवं संगतिकरण अर्थ ही ठीक है। उक्त अर्थों से यह स्पष्ट होता है कि अश्व का अर्थ है सर्वत्र संचरित होने में सक्षम तथा मेध का अर्थ है- संगम - संगतिकरण। प्रजापति ने सर्वत्र संचरित दिव्य मेध को देखा, उसे सृष्टि में होमाविष्ट कराया, तो सृष्टि का क्रम चल पड़ा। प्रजापति की कामना पूरी हुई। '**वीर्यं वा अश्वः**' के अनुसार मनुष्य का पुरुषार्थ अश्व है, उसे दिव्यमेधा से संचालित करने से 'अश्वमेध' मेध होता है। यह प्रयोग जब राष्ट्रिय स्तर पर किया जाता है, तब आदर्श राष्ट्र बनता है। इसलिए '**राष्ट्रं वा अश्वमेधः**' (राष्ट्र अश्वमेध है) कहा गया है। '**सूर्यं वा अश्वमेधः**' '**अश्वमेधः यच्चन्द्रमाः**' के अनुसार सूर्य एवं चन्द्रमा भी अश्वमेध हैं। आज के भौतिक विज्ञान ने भी यह स्वीकार कर लिया है कि चन्द्रमा का मनुष्यों की मानसिकता एवं उसकी क्रियाओं पर प्रभाव पड़ता है। उक्त आधार पर अश्वमेध मानवी पुरुषार्थ को दिव्य चेतना से संचालित करने की एक सूक्ष्म वैज्ञानिक प्रक्रिया है। उसके अन्तर्गत विविध यज्ञीय प्रयोग किये जाते हैं।

अश्वमेध अहीन (दो दिनों से लेकर बारह दिनों तक चलने वाला) सोमयज्ञ है। इसमें सोम का सवन तीन दिन होता है।[११] वैशाख की पूर्णिमा को प्रथम सवन दिवस प्रारम्भ होता है।[१२] इस यज्ञ का विधान केवल क्षत्रियों के लिए ही था। यद्यपि कात्यायन श्रौतसूत्र अश्वमेध यज्ञ को प्रत्येक राजा के लिए अनुष्ठेय मानता है किन्तु तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार केवल एकक्षत्र सार्वभौम सम्राट् ही इस यज्ञ को करने का

---

[११] आप. श्रौ. सू., २०

[१२] कीथ, वैदिक धर्म एवं दर्शन, भाग २, पृष्ठ ४२६

अधिकारी है- **राजा सार्वभौमोऽश्वमेधेन यजेत।**[१३] आपस्तम्भ ने भी इसे स्वीकार किया है।[१४] शतपथ में भी उल्लेख है कि शक्ति सम्पन्न राजा ही इस यज्ञ को करे अन्यथा अधिक शक्तिशाली राजा के द्वारा यज्ञिय अश्व पकड़ लिया जायेगा परिणामतः यज्ञ भंग हो जायेगा। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है- 'अश्वमेध आदित्य है।'[१५] ग्रीष्म में अनुष्ठान करने पर क्षत्रिय का तथा वसन्त में अनुष्ठान करने पर ब्राह्मण का अश्वमेध माना जाता है।[१६]

सोम सवन के तीन दिनों में से प्रथम दिन अश्व का चुनाव होता है। अश्वमेध यज्ञ का संकल्प चित्रा नक्षत्र में होता है- '**चित्रा नक्षत्रं भवति। चित्रां वा एतत्कर्म। यदश्वमेधः समृद्ध्यै, इति**'।[१७]

यज्ञ की समृद्ध्यर्थ अश्वमेधीय स्थल का चयन किया जाता है। जिसका नाम श्रवण मात्र से पुण्य (पवित्र) प्रतीत होता है, उस पवित्र प्रदेश को ही यज्ञ हेतु निर्धारित किया जाता है-

पुण्यनाम देवयजनमध्यवस्यति।
पुण्यामेव तेन कीर्तिमभिजयति, इति।[१८]

ऐसे पवित्र प्रदेशों के रूप में, पुष्करवन, गौतमवन, वाराणसी, कुरुक्षेत्र इत्यादि का उल्लेख है। तृतीय काण्डीय अष्टम प्रपाठकस्थ प्रथम अनुवाक में यज्ञीय उपक्रम से पूर्व यजमान के केशश्मश्रुवपन, नखकर्त्तन इत्यादि संस्कार किये जाते हैं-

---

[१३] तैत्तिरीय ब्राह्मण- ३.८.१

[१४] चिन्नस्वामी, यज्ञतत्त्वप्रकाश, पृ. ११५

[१५] तै. ब्रा.- ३.९.८.३, श. ब्रा.- ९.४.२.१८

[१६] श. ब्रा.- १३.४.१.२

[१७] तै. ब्रा.- ३.८.१.१

[१८] वही

'केशश्मश्रु वपते। नखानि निकृतन्ते'।[१९]

उक्त प्रपाठक के द्वितीय अनुवाक में 'ब्रह्मौदनपाक' से अश्वमेध के प्रारम्भ का उल्लेख है। ब्रह्मौदन के लिए चार प्रकार के जलों का विधान है- '**चतुष्टय आपो भवन्ति**'[२०] ये चार प्रकार के जल चार दिशाओं से वापी, कुँए, स्थावर और बहती हुई नदियों से लाए जाते हैं- ''**ताः दिग्भ्यः समाभृता भवन्ति। दिक्षु वा आपः।**[२१]'' उक्त विधि से लाए गए जलों में चार मुट्ठी चावल अध्वर्यु के द्वारा ऋत्विजों के लिए पकाए जाते हैं। इनमें घी भी मिलाया जाता है और चार पात्रों में परोसकर चारों प्रधान ऋत्विजों (अध्वर्यु, होता, उद्गाता एवं ब्रह्मा) को खिलाया जाता है।[२२] तैत्तिरीय ब्राह्मण में चार सकोरों में ब्रह्मौदन को पलटकर चार दिशाओं में स्थापित करने का विधान है- '**चतुः शरावो भवति दिक्ष्वेव प्रतितिष्ठति**[२३]'। 'ब्रह्मौदनपाक' का रस चुपड़ने के लिए रख लिया जाता था। यज्ञ में प्रयुक्त होने वाली रसना दर्भ अथवा मूंज निर्मित होती थी, उसका परिमाण बारह अथवा तेरह हाथ का होता था- जैसा कि सूत्रकार कहते हैं- '**द्वादशार्रात्नस्त्रायोदशा रात्निर्वा दर्भमयी मौञ्जी वा रसनातां ब्रह्मौदनो क्षेपणे नानक्ति इति।**' तथा ''**यदाज्ञमुच्छिष्यते तस्मिन् रसनां व्युनत्ति प्रजापतिर्वा ओदनः। रेत आज्यम्। यदाज्ये रसनां व्युनत्ति प्रजापतिमेव रेतसा समर्धयति, इति**[२४]।'' अभिप्राय यह है कि घृत के

---

[१९] वही ३.८.१.१

[२०] वही ३.८.२.१

[२१] वही

[२२] का. श्रौ. सू.- २०.१.४-५

[२३] तै.ब्रा.सू.- ३.८.२.१

[२४] तै. ब्रा.- ३.८.३.३

रेतस का कारण होने से घृत में डूबी हुई रसना से रेतस की समृद्धि होती है। दर्भ पवित्र होते हैं अतः कुत्सित, अमेध्य एवं अपवित्र मार्गों से गमन एवं संचरण करने पर अपवित्र हो जाने वाले अश्व को पवित्र दर्भमयी रसना पवित्र करती है। इसके पश्चात् शुद्ध हो जाने के कारण यज्ञ योग्य हो जाने पर इस अश्व का यज्ञ में आलभन किया जाता है।[२५] अश्व बन्धन मन्त्रोच्चारण पूर्वक किया जाता था- '**अभिधा असीत्यश्वमभिदधति**[२६]' इस प्रकार विशिष्ट मन्त्रोच्चारण के साथ पहले से तैयार की गई रसना को बांधकर जल में अवगाहन के लिए लाया जाता था- **आपोऽश्वमवगाहयन्ति**[२७]**।** राजा, उसकी चार पत्नियाँ तथा सैकड़ों अनुचारियां एकत्र होते थे। ब्राह्मण एवं राजन्य वीणावादक वीणा बजाते हैं। सैकड़ों राजकुमारों तथा योद्धाओं के संरक्षण में वह अश्व वर्षभर घूमने के लिए छोड़ दिया जाता है। अश्व की अनुपस्थिति में परिप्लव नामक उपाख्यान वर्षपर्यन्त सुने जाते हैं। अश्व के लौटने पर तीन सवनों में यज्ञ सम्पन्न होता है, जिनमें प्रथम एवं द्वितीय सवन क्रमशः अग्निष्टोम एवं उक्थ्य होते हैं। वैशाख की पूर्णिमा को प्रथम सवन दिवस प्रारम्भ होता है।[२८] अश्व को भ्रमणार्थ विदा कर दिये जाने के बाद यज्ञ स्थल पर की जाने वाली विधियों में परिप्लव आख्यान प्रमुख था। इसके अतिरिक्त दस दिन तक विषयान्तर से आख्यान श्रावण होता था। आख्यान के पश्चात् वीणावादक ब्राह्मण स्वरचित तीन गाथाएं सुनाता था। रात्रि में धृतिहोम होता था। धृतिहोम के बाद क्षत्रिय वीणागायक के द्वारा यजमान

---

[२५] वही

[२६] वही- ३.८.३.५

[२७] वही- ३.८.४.१

[२८] कीथ, वैदिक धर्म एवं दर्शन, भाग-२, पृ. ४२६

की युद्ध सम्बन्धित स्वरचित गाथाएँ सुनायी जाती थी। वर्षभर भ्रमण करते समय यदि अश्व रोगग्रस्त हो जाता था तो उसके लिए इष्टियाँ की जाती थीं, अश्व के मर जाने पर पुनः संस्कृत (रसनादि संस्कार करके) दूसरा अश्व भ्रमण हेतु विसर्जित किया जाता था।

अश्वमेधयाग की वेदि ऐसे स्थान पर बनाई जाती थी, जिसके निकट नित्य जलीय स्थान हो। वेदि साढ़े सात पुरुष परिमाप, पन्द्रह पुरुष परिमाप या बाईस पुरुष परिमाप की बनाई जानी चाहिए। अश्वमेध के यूप इक्कीस होते थे। प्रत्येक यूप में एक अग्निषोमीय पशु का आलभन किया जाता था। तीन सुत्याओं की विधि सम्पन्न करने के पश्चात् यजमान अवभृथ स्नान करता था। स्नान के बाद हवन होता था। इसे अवभृथ इष्टि कहा गया है। शतपथब्राह्मण अवभृथ स्नान की इस विधि को उदयनीया संज्ञा देता है। इसके ऋत्विजों को दक्षिणा में सुवर्ण एवं शतनाम दिए जाते हैं। अश्वमेध के अन्त में यजमान को अग्नि के लिए द्वादशकपाल पुरोडाश पकाना चाहिए। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है- जो अश्वमेध करता है, उसे ब्रह्म की प्राप्ति होती है- ''**योऽश्वमेधेन यजत इति अथो आह्रो सर्वाणि भूतानि इति**[२९]'' शतपथ ब्राह्मण में तो यहाँ तक कहा गया है कि अश्वमेधयाजी यजमान अपने समस्त पापकर्मों से यहां तक कि ब्रह्महत्या के पाप से भी मुक्त हो जाता है और सभी दिशाओं एवं भुवनों को जीत लेता है।[३०]

---

[२९] तै. ब्रा.- ३.८.१६.१

[३०] शतपथ ब्राह्मण- १३.१.२.३

संस्कृत शब्दों में प्रतिबिम्बित गणितीय संक्रियाएँ

डा. वाचस्पति मिश्र[१]

'पाद' शब्द के लाक्षणिक अर्थ में भाग-संक्रिया के संकेत प्राप्त होते हैं। इसका मूल अर्थ 'पैर' है। पशुओं का एक पैर, चारों का एक चौथाई मा१/४ है। अतः यह शब्द इस अर्थ में लाक्षणिक रूप से प्रयुक्त है। इसे निरुक्तकार यास्क ने स्पष्ट रीति से समझाया है।[२] यहाँ उन्होंने भाषाविज्ञान का यह नियम समझाया है कि सादृश्य से नए लाक्षणिक अर्थ विकसित होते हैं।

इस शब्द के इस लाक्षणिक अर्थ के आधार पर गणित के अनेक शब्द विकसित हैं। जैसे - पादोन= पौना, सपाद = सवा इत्यादि। स्वयं पाणिनी ने चाँदी के कर्षापण के चौथाई सिक्के के लिए 'पाद' शब्द का प्रयोग किया है।[३] यह सिक्का 'पादांश' के रूप में प्रयुक्त होकर, पश्चात् काल में 'पैसा' के रूप में विकसित हुआ।

इसी प्रकार 'शफ' शब्द पशुओं के 'खुर' के लिए प्रयुक्त होता था। उनका एक खुर सभी खुरों का १/८ होने से यह शब्द इस अर्थ में

---

[१] **सहाचार्य, मेरठ महाविद्यालय, मेरठ**

[२] 'पशुपाद प्रकृति प्रभागपादः। प्रभागपाद सामान्याद्तिराणि पदानि' ('निरुक्त' २.३७)

[३] 'पणपादभाषशताद् यत्' (पाणिनी ५.१.३४)

विकसित हुआ।[४]

वेद में 'कोण' के लिए 'अश्रि' का प्रयोग प्राप्त है। साथ ही चार कोणों वाले वर्ग (Square) के लिए 'चतुरश्रि' भी उपलब्ध हैं।[५] इसकी चारों रेखाओं के समान होने से वर्ग क्षेत्रफल वाला पदार्थ सममित समझा गया। पाणिनी ने इस के लिए 'चतुरश्र' शब्द की सूचना दी है।[६] इससे निर्मित 'चौरस' शब्द इसका ही संसूचक है।[७]

'शून्य-शून' शब्द की भाववाचक संज्ञा है। 'शून' का अर्थ है 'अत्यन्त सूजा हुआ' अथवा 'बढ़ा हुआ'। अमरकोश में 'शून्य' शब्द के पर्यायवाची 'वशिक', 'तुच्छ' तथा 'रिक्तक' दिए हैं। यथा - **शून्यं तु वशिकं तुच्छरिक्तके**। इसमें शून्यार्थक 'तुच्छ्य' और 'रिक्त' शब्द ऋग्वेद में भी मिलते हैं।[८] 'वशी' शब्द श्रौतसूत्र में भी इसी अर्थ में मिलता है।[९]

ऋग्वेदीय खिलसूक्त[१०] तथा ब्राह्मणग्रन्थों में 'शून्य' शब्द 'रिक्त' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। संसार की अन्य भाषाओं में इन्हीं चारों शब्दों से मिलते-जुलते शब्द पाये जाते हैं। संसार की विभिन्न भाषाओं में शून्य के नाम संस्कृत के पर्यायों से निःसृत

---

[४]'सफशः' (पंचविंशब्राह्मण १५.१.८)

[५]'त्रिरश्रिं हन्ति चतुरश्रिरुग्रो' (ऋग्वेद, १.५२.२)

[६]'सुप्रभातसुश्वसुदिव.....' (पाणिनी, ५.४.१२०)

[७]डा. सुद्युम्न आचार्य, **विश्व गणित पर वैदिक भाषा का प्रभाव**, 'गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार (उत्तराखण्ड) में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय वैदिक सम्मेलन' में परिपठित शोध-पत्र जनवरी, २००५।

[८]ऋग्वेद - ५.५२.१०, १०.१२९.३, ८.५८.३

[९]कात्यायन श्रौतसूत्र - १०.३.७

[१०]ऋग्वेदीय खिलसूत्र - २.११.२०

संस्कृत	शून्य	संस्कृत 'श्' ग्रीक और लैटिन में 'क्' हो जाता है।
ग्रीक	केन्नोस, केन्योस	
एलिक (एक ग्रीक बोली)	केन्नोस	
अरबी	सिफ्र	संस्कृत शब्द रिक्त का द्योतक
प्राचीन लैटिन	ज़ेफ़ीरुम् (Zephyrum)	
मध्यकालीन लैटिन	किफ़्रा (Cifra)	
इतालवी, स्पेनी, पुर्तगाली	सिफ़्रा (Cifra)	
प्राचीन फ्रांसीसी	सिफ़्र (Cifra)	
आधुनिक फ़्रांसीसी	शिफ़्र (Chiffre)	
प्राचीन नार्स	सिफ्रा (Cifra)	
मध्यकालीन डच	सिफ़ेर (Cifer, Cipher)	
आधुनिक डच	सिफ़ेर (Cifer)	
मध्यकालीन निम्न जर्मन	ज़िफ़्रे (Jifre, Jifer)	
उत्तर मध्यकालीन जर्मन	जिफ़ेर (Zif(t)er)	
मध्यकालीन अंग्रेजी	सिफ़्रे(Ciphre)	
आधुनिक अंग्रेजी	साइफ़र (Cipher)	

दूसरी ओर, प्राचीन लैटिन शब्द 'जेफ़ीरुम' (Zephyrum) का निम्नांकित क्रम से विकास हुआ -

इतालवी	ज़ेफीरो, जीरो (Zifiro, Zero)
मध्यकालीन फ्रांसीसी	ज़ीरो (Zero)
आधुनिक फ्रांसीसी	जेरो (Zero)

अंग्रेजी	ज़ीरो (Zero)	
लैटिन	तुक्स	
लिथुआनी	तुच्छियल	संस्कृत 'तुच्छ' शब्द से मिलते-जुलते शब्द
स्लाव	तुश्ती	
डेनी (Danish)	तोम	
बोहीमियन चेक	रोज्दनी	संस्कृत 'रिक्त' शब्द से मिलते-जुलते शब्द
पोलिश	रोज़्नी	

उपर्युक्त शब्दमाला के अवलोकन मात्र से ज्ञात होता है कि ये सारे शब्द सगोत्री हैं एवं संस्कृत 'शून्य' के अरबी रूपान्तर 'सिफ्र' से विकसित हैं। दाशमिक अंकपद्धति में संख्याओं को लिखते समय शून्य का सांकेतिक चिह्न आविष्कृत होने से पहले उसके स्थान को रिक्त छोड़ देते थे। अतएव भारत में भी इस संख्या को रिक्तस्थान द्वारा व्यक्त किया गया है। जैसे - '१०४' को '१ ४' लिखकर। जब कोई भाषा किसी अन्य भाषा के किसी नवीन वैज्ञानिक भाव को ग्रहण करना चाहती है तो वह उस भाव के द्योतक अपने किसी निकटतम शब्द द्वारा ऐसा करती है। 'शून्य' के साथ भी यही हुआ है। क्योंकि इसका एक अर्थ 'खाली' या 'रिक्त' था, इसलिए, अरबी में इस अर्थ के द्योतक 'सिफ्र' शब्द को गणितीय 'शून्य' के द्योतनार्थ भी प्रयुक्त कर लिया गया। यही 'सिफ्र' शब्द योरोपीय भाषाओं में 'साइफर' (Cipher) तथा 'ज़ीरो' (Zero) इन दो भिन्न रूपों में विकसित हुआ, जिसका क्रम ऊपर दिखाया जा चुका है।

शून्य का विकृत रूप 'सुन्ना' भी हिन्दी की कई बोलियों में मिलता है।[११] वर्तमान पद्धति से अपरिचित ज्योतिषि परिकलन (Calculation) करते समय 'पाँच गुणा दो, आए दस, दस का पूर्ण, हाथ लगा एक' कहते

[११]डा. उपाध्याय, ब.ल., प्राचीन भारतीय गणित, पृष्ठ १२८

हैं। अतः शून्य के लिए पूर्ण शब्द का भी व्यवहार किया जाता है। मोनियर विलियम्स के संस्कृत-कोश में भी **'पूर्ण'** शब्द का अर्थ **'शून्य'** दिया है। **'शून्य'** कहना जो लोग अशुभ समझते थे, वे उसके स्थान पर **'पूर्ण'** शब्द का व्यवहार करते थे। जैसे - गाँव में आज भी **'साँप'** को **'कीड़ा'** कहा जाता है तथा **'सुअर'** पालने वाले वाल्मीकियों में सुअर को **'जानवर'** कहते हैं। 'दस' पर दाशमिक अंक-माप (Decimal Scala) पूरा हो जाता है। अतः शून्य के स्थान पर 'पूर्ण' शब्द का प्रयोग सार्थक भी है। किन्तु रोचक बात यह है कि 'खग्रास' (पूर्ण ग्रहण) शब्द में शून्य का पर्यायवाची **'ख'** शब्द **'पूर्ण'** अर्थ में प्रयुक्त होता है।

प्राकृत में शून्य को 'सुगुण' तथा 'सुण्ण' कहते हैं, जिससे हिन्दी में 'सूना', 'सुन्ना' अथवा 'सुन्न' शब्द बने हैं। अथर्ववेद में 'क्षुद्र' शब्द आया है। डा. विभूतिभूषण दत्त के मत से यह शून्य के ही अर्थ में वहाँ प्रयुक्त हुआ है। वैसे 'क्षुद्र' का अर्थ तो 'तुच्छ' है और तुच्छ स्वयं रिक्त्यर्थक शून्य का पर्याय है। वैदिक ग्रन्थों में 'ख', 'आकाश', 'शून्य', 'क्षिति', 'धरा', 'व्योम', 'वशी', 'महत्' तथा 'तुच्छम्' शब्द उपलब्ध हैं।[१२] अतः डा. दत्त की कल्पना सत्य प्रतीत होती है।

भाग्य की बात है कि **'शून'** (समृद्ध) जैसे महान् पिता का पुत्र 'शून्य' निकला, जैसे - प्रकाश देने वाले दीपक से अंधकार का प्रतीक काला-कलूटा 'काजल' उत्पन्न हुआ। किन्तु शून्य होते हुए भी इसमें वह महत्ता तो है ही कि जो राशि इसकी सचमुच 'भक्त' बन जाती है, उसे यह अनन्त मान और वैभव प्रदान करता है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि शून्य स्वयं शून्य होते हुए भी 'अनन्त' का पिता हैं, क्योंकि १/० = ०० (अनन्त)।

---

[१२]फ़ेनिक्त शिकोरोव, राष्ट्रधर्म (मासिक), पृष्ठ ८७, अगत १९८२

नाचिकेताग्नि स्वरूप

देवप्रकाश[१]

वेद वाङ्मय के कृष्ण यजुर्वेदीय शाखा की परम्परा में तैत्तिरीय शाखा अति प्रसिद्ध रही है। तैत्तिरीय शाखा के तैत्तिरीय ब्राह्मण को तैत्तिरीय संहिता का परिशिष्ट मात्र माना जाता है। जो विषय संहितास्थ ब्राह्मण में अपूर्ण छोड़े गये हैं, उन्हीं की पूर्ति करना इसका उद्देश्य है। इस ब्राह्मण में मन्त्रों की बहुलता है। ये मन्त्र सम्पूर्ण ब्राह्मण में मिश्रित हैं। इस ब्राह्मण में तीन अष्टक हैं। प्रथम अष्टक को पारक्षुद्र, द्वितीय को अग्निहोत्र और तृतीय के भिन्न-भिन्न भागों को पृथक्-पृथक् नामों से अभिहित किया गया है।[२] जैसा कि नाम से ही प्रकट है इस ब्राह्मण का प्रवचन वैशम्पायन के शिष्य तित्तिरि ने किया था।[३] सम्पूर्ण तैत्तिरीय ब्राह्मण में यम और नचिकेता की कथा का सूक्ष्म रूप विद्यमान है। नाचिकेताग्नि का वर्णन तैत्तिरीय के तृतीयाष्टक में किया है। वस्तुतः यह काठक शाखा का भाग है, जिसका वर्णन कठोपनिषद् में नचिकेता और यमाचार्य उपाख्यान में प्राप्त होता है। भट्टभास्कर इस काठक भाग को तित्तिरि+प्रोक्त नहीं मानता। वह इसकी व्याख्या के आरम्भ में लिखता है-

[१]**शोधछात्र, वेद विभाग, गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार।**

[२]भगवद्दत्त कृत वैदिक वाङ्मय का इतिहास, तृतीयभाग पृ. १९

[३]तेन प्रोक्तम्, तित्तिरिवरतन्तुखण्डिकोखाच्छण्। अ०। ४/३/१०१-१०२

"एवमश्वमेधान्तानि तित्तिरिप्रोक्तानि काण्डानि व्याख्यातानि। अथ काठकाग्निकाण्डान्यष्टौ।"[४]

इसी काठक शाखान्तर्गत कठोपनिषद् से सम्बन्धित आख्यान नचिकेता और यमाचार्य के संवाद में वर्णित है। जो आख्यान आलंकारिक ऐतिहासिक शैली में वर्णित है। प्रारम्भ में नचिकेता के प्रश्न के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं।

वाजश्रवा के पुत्र उशन् ने विश्वजित् याग किया जिसमें दक्षिणादि के रूप में सर्वस्व दान कर दिया। उसका एक नचिकेता नाम का पुत्र था। उसने जब देखा कि पिता सब कुछ दान कर रहे है। उस समय उसने जिज्ञासावश पूछा कि **"तत् कस्मै मां दास्यसीति। द्वितीयं तृतीयमिति। तं ह परीत उवाच। मृत्यवे त्वा ददामीति।"**[५] अर्थात् हे तात! आप मुझे किसको दोगे। ऐसा बार-बार पूछने पर पिता ने क्रोध में कहा कि तुझे मृत्यु को देता हूँ। पिता के कहने पर वह मृत्यु के पास गया। आचार्य यम उस समय अपने आश्रम पर नहीं थे। नचिकेता ने तीन रात्रि पर्यन्त भूखे (अनश्नन्) वास करते हुए आचार्य की प्रतीक्षा की। यमाचार्य जब वापस आये देखा कि एक ब्रह्मचारी मेरी प्रतीक्षा व्रत सहित तीन दिन से कर रहा है। उन्होंने कहा **"तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहेमेऽनश्नन्ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः। नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्व"॥**[६] अर्थात् हे ब्रह्मन्! आप मेरे घर पर तीन रात्रि तक बिना खाये रहे हैं। आप अतिथि रूप से मेरे घर पर रहने के कारण प्रणम्य हैं, अतएव हे! ब्रह्मन्! आपको

---

[४]तै० ब्रा० ३.१०.१

[५]तै० ब्रा० ३.११.८.१

[६]कठो० १.१.९

नमस्कार है। हे ब्रह्मन्! आपकी कृपा से मेरा कल्याण हो। आप मेरे घर में तीन दिन तक बिना खाये रहे हो, अतएव आप उसके बदले प्रति रात्रि के अनुसार तीन वरदान मांगिये। नचिकेता ने प्रथम वर के रूप में अपने प्रति पिता का क्रोध शान्त हो।[७] परन्तु तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार **"पितरं मे जीवन्नयानीति"।**[८] अर्थात् आपको प्राप्त हुए मेरे पिता पुनः जीवित हो जायें। द्वितीय वर के रूप में नचिकेता कहता है- **स त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वं श्रद्दधानाय मह्यम्। स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण॥**[९] अर्थात् हे मृत्यो! जिस स्वर्ग के साधनभूत अग्नि को आप जानते हो, जिस दिव्याग्नि के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति होती है उस अग्नि विद्या का ज्ञान मुझे द्वितीय वर के द्वारा दो। वह स्वर्ग को परिभाषित करते हुए कहता है- **स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति। उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥**[१०] अर्थात् जिस स्वर्गलोक में भय का लेशमात्र भी नहीं है, न वहाँ आप अर्थात् मृत्यु का डर है, न वृद्धावस्था है। अपितु भूख और प्यास दोनों बन्धनों को तोड़कर शोकरहित होकर वह पुण्यात्मा स्वर्गलोक में आनन्द का उपभोग करता है। जो यह स्वर्ग साधक अग्नि का यमाचार्य द्वारा नचिकेता को उपदेश किया। कहा कि **तवैव नाम्ना भवितायमग्निः**[११] अर्थात् आज से यह अग्नि तेरे नाम वाली अग्नि कहलायेगी। इस नाचिकेत

---

[७]कठो० १.१.१०

[८]तै० ब्रा० ३.११.८.४

[९]कठो० १.१.१३

[१०]कठो० १.१.१२

[११]कठो० १.१.१६

अग्नि के स्वरूप का वर्णन करते हुए तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा है **"अयं वाव यः पवते। सोऽग्निर्नाचिकेतः। स यत्प्राङ्. पवते। तदस्य शिरः। अथ यद्दक्षिणा। स दक्षिणः पक्षः। अथ अप्रत्यक्। तत्पुच्छम्। यदुदङ्। स उत्तरः पक्षः। अथ यत्संवाति तदस्य समंचनं च प्रसारणं च॥"**[१२] अर्थात् जो यह प्रत्यक्ष में संचरणशील वायु ही नाचिकेत अग्नि है। पूर्व की ओर संचरण ही इसका शिर है। दक्षिण दिशा की ओर संचरण इसका दाहिना पक्ष है। पश्चिम की ओर संचरण इसका पुच्छ है। उत्तर की ओर संचरण इसका बायां पक्ष है। जो यह निरन्तर संचरण करता है वही इसका संकोच विकास है। इस अग्नि का उपदेश यमाचार्य ने यथाविधि- **लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा"**।[१३] अर्थात् उस स्वर्ग लोक की साधनभूत अग्नि से सम्बन्ध रखने वाली जो इष्टिकायें एवं जितनी उनकी संख्या है एवं जिस विधि से उनका चयन करते हैं यह सब बतला दिया। इसकी विधि चयन याग से सम्बन्धित है। इसे चिति या चयन याग कहते हैं। इसके विषय में कहते हैं **"कमग्निं चिनुते। नाचिकेतमग्निं चिन्वानः प्राणान्प्रत्यक्षेण इति"**।[१४] पूछते हैं किस अग्नि का चयन किया जा रहा है। नचिकेता सम्बन्धी अग्नि का चयन करता हुआ व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप से प्राण प्राप्ति वाली अग्नि का चयन करता है। इस प्राणाग्नि के विषय में तैत्तिरीय आरण्यक कहता है **"अयं संवत्सरः सर्वेषां भूतानां प्राणैरप प्रसर्पति चोत्सर्पति च"**।[१५] अर्थात् यह संवत्सरः

---

[१२]तै० ब्रा० ३.११.७.१

[१३]कठो० १.१.१५

[१४]तै० आ० १.२२.१७

[१५]तै० आ० १.१४.८

ही सभी प्राणियों के प्राणों के द्वारा अपसर्पण करता है। जैमिनीय ब्राह्मण में संवत्सर को ही प्रजापति कहा है। **कः प्रजापतिरिति सम्वत्सरः इति।**[१६] अस्तु! संवत्सर केन्द्रस्थ प्रजापति पर एक संवत्सर की ७२० (३६० अहः का अग्नि एवं ३६० रात्रि का अग्नि) अग्नि की इष्टिकायें होती हैं। ये यजुष्मती और लोकम्पृणा नाम की इष्टिकाओं का प्रकृति के अनुसार चयन होता है। इनका चयन स्तोमों के अनुसार होता है। सप्तदश, एकविंशति, त्रयस्त्रिंशत्। क्योंकि प्रजापति का सप्तदशत्व सर्वविदित है।[१७] इसमें **एतेन नाचिकेतो व्याख्यातः नात्र लेखा भवन्ति, एकविंशति हिरण्येष्टकाः शर्करा वाभ्यक्ता उपधानकाले नाभ्यामेवोपधीयन्ते चतुरस्रं परिमण्डलं वा लोकोऽसि स्वर्गोऽसीत्यनुवाकेन प्रतिमन्त्रम्।**[१८] अर्थात् प्रकृति चयन याग के समान ही नाचिकेताग्नि का चयन समझना चाहिये विशेष इसमें यह है कि २१ स्वर्ण इष्टिकायें रोड़ी से संयुक्त उपधान के समय में मध्य में रखते हैं। नाचिकेताग्नि का चयन चकोर अथवा गोलाकार होगा "**लोकोऽसि स्वर्गोऽसि**" इत्यादि मन्त्र से चयन करना चाहिये।

उपर्युक्त मन्त्रों से उत्तरवेदी का चयन करके **"चतुर्गृहीतं जुहोति त्वमग्ने रुद्र इति शतरुद्रीयस्य रूपमपरं चतुर्गृहीतमग्नाविष्णू इति वसोर्धाराया अपरं चतुर्गृहीतमन्नपत इत्यन्न होमस्यापरं चतुर्गृहीतं सप्त ते अग्ने समिधः सप्त जिह्वा इति विश्वमीः"।**[१९] अर्थात् आगे की विधियों से

[१६] जै० ब्रा० २.४.२४

[१७] शत० १.४.११

[१८] तै० ब्रा० सा० भा० ३.११.१

[१९] तै०ब्रा० सा० भा० ३.११.२

शतरुद्रीय होम 'त्वमग्ने रुद्र' इत्यादि मन्त्रों, 'अग्नाविष्णु' से वसोधीरा होम, अन्नपते से अन्नहोम इत्यादि होम करके नाचिकेताग्नि का उपस्थान करते हैं। उपस्थान अर्थात् ध्यान करना **"यो ह वा अग्नेर्नाचिकेतस्य शरीरं वेद। सशरीर एव स्वर्गं लोकमेति। हिरण्यं वा अग्नेर्नाचिकेतस्य शरीरम्।**[२०] अर्थात् नाचिकेताग्नि के शरीर को जो जानता है, वह सशरीर स्वर्गलोक को जाता है। यह नाचिकेताग्नि संवत्सररूपी है यह ऊपर प्रतिपादित किया जा चुका है। तैत्तिरीय ब्राह्मण कहता है- **"संवत्सरो वा अग्निर्नाचिकेतः। तस्य वसन्तः शिरः। ग्रीष्मो दक्षिणः पक्षः। वर्षा उत्तरः। शरत् पुच्छम्। मासाः कर्मकराः। अहोरात्रे शतरुद्रीयम्। पर्जन्यो वसोधीरा। यथा वै पर्जन्यः सुवृष्टं वृष्ट्वा प्रजाभ्यः सर्वान्कामान्त्संपूरयति। एवमेव स तस्य सर्वान्कामान्त्संपूरयति। योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते"**[२१] अर्थात् संवत्सर ही नाचिकेताग्नि है। वसन्त ऋतु उसका शिर है। ग्रीष्म दक्षिण पक्ष है। वर्षा उत्तर पक्ष है। शरद् ऋतु पुच्छ है। महीने ऋत्विगादि हैं। दिन रात्रि शतरुद्रीय होम है। पर्जन्य वसुधारा है। जिस प्रकार पर्जन्य अच्छी प्रकार वर्षा करके प्रजा की सभी कामनाओं की पूर्ति करते हैं, उसी प्रकार नाचिकेताग्नि भी उसकी सभी कामनाओं की पूर्ति करती है।

अस्तु! प्रस्तुत मृत्यु और नचिकेता उपाख्यान को प्रारम्भ में आलंकारिक ऐतिहासिक शैली का आख्यान कहा है। अर्थात् इस आख्यान में वर्णित नचिकेता आदि पात्र ऐतिहासिक प्रतीत होते हुए भी ऐतिहासिक पात्र नहीं है। ऋषि ने विशेष अग्नि विद्या का उपदेश करने के लिये आख्यान को माध्यम बनाया। क्योंकि विश्वजित् याग में सर्वस्व दान

---

[२०] तै० ब्रा० ३.११.७.३

[२१] तै० ब्रा० ३.११.१०.३

का विधान है। मीमांसाकार जैमिनि मुनि सर्वस्व को व्याख्यात करते हुए पूर्वपक्ष को उठाते हुए कहा "**स्वदाने सर्वमविशेषात्**"[२२] अर्थात् सामान्य रूप से जो कुछ हो सब दान कर देना चाहिये। परन्तु अगले सूत्र में स्व को व्याख्यात करते हुए कहा "**यस्य वा प्रभुः स्यादितरस्याशक्यत्वात्**"[२३] अर्थात् दान तो उसी वस्तु का दिया जायेगा जिस पर स्वामी का स्वत्व हो, जो वस्तु तुम्हारी नहीं, उसको तुम दान में नहीं दे सकते। व्याख्याकारों ने कहा कि माता, पिता, सन्तान, पत्नी आदि को दान में नहीं दे सकते क्योंकि वह सम्पत्ति की कोटि में नहीं आते। **सर्वस्वदाने पित्रादावपि तद्धन एव वा। स्वत्वादाद्यः पितृत्वादावत्यागाद्धन एव तत्॥**[२४]

कहा है कि विश्वजित् याग में सब कुछ दान देता है। उस प्रकरण में धन के समान पिता आदि आत्मीयों से भी स्वत्व समान होने से दान की प्राप्ति है। दान, आत्म सम्बन्ध त्यागपूर्वक पर सम्बन्ध स्थापित होने को कहते हैं। परन्तु पिता आदि के दान करने पर भी आपके साथ उनका पितादि सम्बन्ध रूप व्यवहार नहीं छूटता और दूसरे के साथ पितादि सम्बन्ध नहीं जुड़ता। क्योंकि स्व शब्द के आत्मा, ज्ञाति, आत्मीय और धन ये चार अर्थ होते हैं। उनमें से मीमांसा सिद्धान्त के अनुसार एक प्रकरण में एक ही अर्थ लिया जायेगा। प्रकृत प्रसंग में गौ आदि धन ही दक्षिणा रूप धन यहाँ अभिप्रेत है। और जैमिनि ने तो भूमि के लिये भी निषेध किया है। "**न भूमिः स्यात् सर्वान्प्रतित्यविशिष्टत्वात्**"[२५] अर्थात्

---

[२२]मीमांसा ६.७.१

[२३]मीमांसा ६.७.२

[२४]मीमांसा ६.७.१

[२५]मीमांसा ६.७.३

भूमि समस्त प्रजा की है वह भी राजा दान में नहीं दे सकता। अस्तु इससे विदित होता है कि नचिकेता दान में नहीं दिया जा सकता सन्तति होने से। अतः यह दृष्टान्त ऋषि ने नाचिकेताग्नि विद्या के उपदेश हेतु कल्पित किया है। नचिकेता शब्द 'कित ज्ञाने' जुहोत्यादि की धातु से औणादिक **"चक्षेर्बहुलं शिच्च"**[२६] से चिकेत अर्थात ज्ञानी ब्रह्म पद वाच्य हुआ तथा **"नभ्राण्नपान्नवेदानासत्यानमुचिनकुलनखन पुंसकनक्षत्रनक्रनाकेषु प्रकृत्या"**[२७] के समान पृषोदरादि मानकर **न चिकेतः नचिकेतः** अर्थात् ज्ञान रहित अल्पज्ञ जीव अर्थ का वाचक हुआ। नचिकेतः से सम्बन्धित अग्नि नाचिकेताग्निः" अर्थात् मनुष्यों (के लिये) उससे सम्बन्धित अग्नि अर्थ हुआ।

मृत्यु तो मृत्यु है। अतः ऋषि ने नचिकेता रूपी जीव जो मृत्यु के द्वारा गृहीत था। मरणधर्मा है उसे उसी मृत्यु के मुख से उसी से बचने का उपाय प्रतिपादित कराया। जिससे जीव मृत्यु को पार करके स्वर्ग को प्राप्त हो सके। नाचिकेताग्नि का अनुष्ठान करके जीव **"एष वाव सोऽग्निरग्निमयः पुनर्णवः। अग्निमयो ह वै पुनर्णवोभूत्वा। स्वर्गं लोकमेति। आदित्यस्य सायुज्यम्। योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते। य उ चैनमेवं वेद इति।**[२८] ऊपर प्रतिपादित यह नाचिकेताग्नि पुनः नूतन होकर अग्निमय होकर, तेजोमय होकर स्वर्ग लोक को जाता है। आदित्य के सह स्थान को प्राप्त करता है।

---

[२६] उणादि० ४.२३४

[२७] अष्टा० ६.३.७४

[२८] तै० ब्रा० ३.११.१०.४

वेदव्याख्यायाम् ऋषिदेवताछन्दसामुपयोगिता

दिव्यरंजन[1]

आर्षधर्मस्य जीवनदातार ऋषय एव सन्ति। एतेषाम् उपदेशेभ्य एव आर्यसंस्कृतिसभ्यतानां निर्माणं समभवत्। गत्यर्थकेन 'ऋष्'धातुना 'ऋषि'शब्दः सिद्ध्यति - **ऋषति गच्छति, प्राप्नोति जानाति वा**[2]**स ऋषिरीश्वरः**। एकवचनान्तः ऋषिशब्दः ईश्वरवाचकः। यत्र प्रकरणे 'कृ'धातोः अर्थः दर्शनं भवति तत्र मन्त्रकृतस्यार्थः मन्त्रद्रष्टा भवति। अत्र 'कृ'धातुः करणेऽर्थे भवनात् मन्त्रकर्त्ता ऋषिरेव अभिप्रेतः। सायणाचार्येणापि[3] इत्यत्र **ऋषिः अतीन्द्रियार्थः मन्त्रकृत्** लिखित्वा ऋषिः ईश्वरपर्यायः मतः। 'ऋषिः दर्शनात्' सर्वद्रष्टृत्वेनापि ईश्वरः ऋषिणा अभिधीयते किन्तु परमेश्वरस्य आप्तकामभवनात् ऋषिणा अभिधीयते किन्तु परमेश्वरस्य आप्तकामभवनात् जगद्रचनायां तस्य स्वार्थं किमपि नास्ति। यस्य स्वकामना न भवति स परार्थ एव करोतीति दृश्यते।

---

[1] **शोधच्छात्रः, व्याकरणविभागः, श्री लालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः, नवदेहली**

[2]उणादिकोश ४.१२१

[3]ऐतरेयब्राह्मणम् ३.२.१

येषु ऋषिषु मन्त्राः प्रादुर्भूताः ते एते पञ्चविधाः। ते महर्षि-ऋषि-ऋषिक- ऋषिपुत्रक-श्रुतर्षि इत्यादयः उच्यन्ते। एषु पञ्चसु त्रयाणामेव वर्णनं पुराणेषूपलभ्यते। शेषयोः द्वयोः सम्बन्धपाठः पुनष्टः। एतदृषिविषयकः पुराणस्थः पाठः अग्रे लिख्यते -

अतीतानागतानां च पञ्चधा ह्यार्षकं स्मृतम्।

अतस्त्वृषीणां वक्ष्यामि तत्र ह्यार्षसमुद्भवम्॥६०॥

इत्येता ऋषिजास्ता नामभिः पञ्च वै श्रृणु॥१५॥

वेदानां समयज्ञानाय वेदानाम् ऋषीतिहासज्ञानमत्यावश्यकम्। वयं जानीम यद्वेदमन्त्राणां ये ऋषयः लिखिताः अथवा तत्सम्बन्धे अनुक्रमणीप्रदत्तर्षयः सन्ति, ते सर्वे तन्मन्त्राणामादिद्रष्टारो न सन्ति अपितु सर्वप्रथमं मन्त्रार्थप्रचारकः अथवा मन्त्रकारः = मन्त्रकृत् = मन्त्रद = मन्त्रनियोजकः, मन्त्रविचारकादि भवनादपि लिखिताः सन्ति। मन्त्रकृत्शब्दपरताण्ड्यमहाब्राह्मणे उक्तम् -

ते देवा अब्रुवत्तेषवावं पिता यो मन्त्रकृदिति।[४]

एतस्यैवार्थः मनुस्मृत्याम् -

देवश्चैतान्समेत्योचुर्न्यायः वः शिशुरुक्तवान्।

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः॥[५]

ऋषिदयानन्देन एकस्य निरुक्तवाक्यस्यार्थः कृत आसीत् –

'जिस-जिस मन्त्रार्थ का दर्शन जिस ऋषि को हुआ और प्रथम ही जिसके पहले उस मन्त्र का अर्थ किसी ने प्रकाशित नहीं किया था, किया और दूसरों को पढ़ाया भी इसलिए अद्यावधि उस-उस मन्त्र के

---

[४]ताण्ड्यमहाब्राह्मणम् १३.३.२५

[५]मनुस्मृतिः २.१५२

साथ ऋषि का नाम स्मरणीय लिखा जाता है।[६]

अनेन प्रमाणेनापि एषैव वार्ता ज्ञायते यत् मन्त्रद्रष्टारः ऋषयः मन्त्रनिर्मातारो नासन् अपितु वेदमन्त्रास्तु प्राक्त एव विद्यमाना आसन्। ते तु मन्त्रार्थद्रष्टारः, मन्त्रार्थाध्यापकाः प्रचारकाः वासन्। एतेन भावेनैव वात्स्यायनः उक्तवान्-

आप्ताः खलु साक्षात्कृतधर्माः।[७]

अर्थात् धर्मं ये साक्षात् कृतवन्तः सन्ति ते आप्ताः। तथा च -

य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च।[८]

अर्थात् ये वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारः ते एव आप्ताः।

मन्त्राणां पुनः पुनः प्रादुर्भवनात् एकस्यैव सूक्तस्य बहव ऋषयो भवन्ति, एषा गणना शतंपर्यन्तमपि गच्छति। ऋग्वेदे अनेकानि सूक्तानि सन्ति येषां द्वौ, त्रयः चत्वारः शतं वा ऋषयः सन्ति। उदाहरणार्थम् - १.१०५, २.२९, ३.११, ३.५४, ४.४३, ५.२४, ५.४४, ८.१४, ९.९८, १०.२४, ९.६६ इत्यादि पश्यतु। एतेषु प्रत्येकम् ऋषिः द्वित्राणां मन्त्राणां द्रष्टारः। अत एव तेषां नामानि तदुपरि लिखितानि भवन्ति।

मन्त्राणां पुनः पुनः प्रादुर्भवनस्य एकोऽन्यो गभीरोऽर्थः। वयं जानीमः यत् भिन्न-भिन्नब्राह्मणग्रन्थेषु एकस्यैव मन्त्रस्य भिन्नो भिन्नोऽर्थः कृतः। एकस्यैव मन्त्रस्य विनियोगोऽपि बहुविधो लभते। मन्त्रार्थस्य एषैव भिन्नतास्ति यत् यत् समये-समये बुद्धम्। अतः प्राचीनाचार्यैः एतदपि लिखितं यत् ऋषयः मन्त्रद्रष्टारोऽप्यासन्।

---

[६]सत्यार्थप्रकाशः, सप्तमसमुल्लासः

[७]न्यायदर्शनम् १.१.७

[८]न्यायदर्शन २.२.६७

यत्र सूक्तेषु द्वित्राः ऋषयः प्रदत्ताः तत्र सन्देहार्थको वा प्रयुज्यते। अनेन निश्चियते यत् अनुक्रमणीनिर्माणकाले कतिचित्सम्बन्धितसूक्तानामितिहासः विस्मृतः, ते न जानन्ति स्म यद् निश्चयेन कस्य सूक्तस्य कः द्रष्टा? अतः तैः 'वा' शब्दं प्रयुज्य एतदेव दर्शितं यत्तत्काले ऐतिह्यश्रृंखला छिन्ना संजाता आसीत् संशयात्मिका च जातासीत्। परन्तु 'वा' शब्दे अनुक्रमणीकारस्य अभिप्रायः सन्देहेन नास्ति। तत्र तु 'वा' समुच्चयार्थे लिखितः। एषोऽर्थः निरुक्ते - १.४ इत्यत्र आगतः। सर्वानुक्रमण्यां वा एका परिभाषाऽस्ति, कात्यायनेन च स्वपरिभाषाप्रकरणे एतस्य प्रयोजनं स्पष्टीकृतम्। तत्सूत्रम् - **ऋषिश्चान्यस्मादृषेर्वा विशिष्टः**[९]।

अर्थात् 'वा' शब्देन पूर्वर्षेः एकस्मिन् सूक्तेऽनुवृत्ति आयाति। वेदव्याख्यायाम् ऋषिज्ञानमावश्यकं स्वयं कात्यायनेनोक्तम् -

न ह्येतज्ज्ञानमृते श्रौतस्मार्तकर्मप्रसिद्धिः।[१०]

अर्थात् ऋषीत्यादिकस्य ज्ञानं विश श्रौतस्मार्तकर्मणां सिद्धिर्न भवति, अत एव श्रौतस्मार्तकर्मणि सूक्तं प्रयुञ्जन् यत्र अनेकः ऋषिरुक्तस्तत्र एकस्य ज्ञानमेव पर्याप्तम्। इतिहासरक्षायै कात्यायनस्य कृते एतदावश्यकमासीत् यत् यावद्भिः ऋषिभिः कस्यापि सूक्तस्यार्थो दृष्टः तैस्तन्नाम प्रदत्तम्। कात्यायनस्य वा कर्मप्रयोगे कस्यापि ऋषिसम्बन्धे वैकल्प्येनास्ति। न तु द्रष्टरि सन्देहप्रकटनाय।

यदि कश्चिद् एतद् हठं न त्यजति तर्हि ऋग्वेदे९.९८द्रष्टव्यम्। तदृषेः सम्बन्धे कात्यायनस्य वचनमस्ति 'अम्बरीष ऋजिश्वाज'। आर्षानुक्रमण्यां

---

[९] सर्वानुक्रमणी १२.१

[१०] तदेव १.९

शौनकस्यायं श्लोकः-

अम्बरीषोऽभि नः सूक्ते मान्धातृतनयस्तथा।
भारद्वार ऋजिश्वा च तावेतौ संहितावृषी॥[११]

एतयोः द्वयोः स्थलयोः च समुच्चयार्थकः पुनश्च ऋग्वेदस्य ८.१४ अनुक्रमण्यां द्वौ ऋषी उक्तौ "गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ काण्वाय नौ"। अर्थात् गोषूक्तिः अश्वसूक्तिश्च।ऋग्वेदस्य अष्टममण्डलस्य चतुर्दशसूक्तस्य प्रथमपञ्चमौ मन्त्रौ सामवेदस्य पूर्वाचिक २.३ इत्यस्य सप्तमाष्टमौ मन्त्रौ स्तः। एतेषां ऋषी अपि एतावेव स्तः। एतस्मिन् आर्षेयब्राह्मणस्य २.२२ इत्यस्य साक्षी अपि विद्यमानोऽस्ति। 'गोषूक्तं चाश्वसूक्तं' अर्थात् एताभ्यामृषिभ्याम् एतौ मन्त्रौ दृष्टौ।

एवं यदा यदा ऋषयो जायन्ते तदा तदा वेदार्थो जायते स च सर्वेषु जनेषु प्रकीर्यते। आदितः एव प्रचलायमानोऽस्ति। अधुना यदा संसारे वेदस्य सत्यार्थो लुप्त आसीत्। ऋषिदयानन्दः पुनरागत्य सत्यार्थप्रसारस्य चेष्टां कृतवान्। तस्यैव महात्मनः परिश्रमेण मत्सदृशोऽपि तन्मार्गे प्रचलितः।

दिवि तिष्ठतीति - 'दिव् शब्दे तिष्ठति' इत्यर्थे घञ्प्रत्ययः। देव एव देवता - स्वार्थे तल् प्रत्ययः। अत एव मन्त्रेण द्योतते इति देवता - अनेन निर्वचनेन मन्त्रस्य प्रतिपाद्यविषयः देवता उच्यते। एवं येषां मन्त्राणां प्रतिपाद्यविषयः मनुष्योऽस्ति, स माता पिता आचार्यः विद्वान् अतिथिः कोऽपि स्यात्, तेषां देवता मनुष्योऽस्ति। एते सर्वे स्व-स्वसामर्थ्यानुसारं द्वितीयेभ्यः किमपि दत्वा उपकारं कुर्वन्ति। यथा सूर्यादयः पदार्थान्

---

[११] आर्षानुक्रमणिका ३५

द्योतयन्ति। एतदाधारे मनुष्या अपि देवता इति उचितं कथनम्। (शतपथब्राह्मणे ४.३.४४.४) इत्यस्मिन् शुश्रुवांसीनूचानास्ते मनुष्यदेवाः। तथा षड्विंशब्राह्मणे १.१ इत्यस्मिन् 'अथ है ते मनुष्यदेवाः ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः' इत्युक्त्वा मनुष्याः देवसंज्ञकाः उक्ताः। सायणाचार्यादिभिरपि देवशब्दस्य स्तोता यजमानाद्यर्थः कृतः। तं पत्नीभिरनु गच्छेम देवाः (यजु. १५.५०) इत्यस्मिन् देवशब्दस्यार्थः ऋत्विज् तथा यजु. १७.५६ इति भाष्ये यजमानः अर्थः कृतः। ऋत्विज् यजमानौ मनुष्यावेव भवतः। 'ते मे आहुर्यः' (ऋ.५.५३.३) तथा 'अज्येष्ठासो अकनिष्ठासः (ऋ.५.५९.६) इति मन्त्राणां वर्ण्यविषयो मनुष्योऽस्ति। परन्तु उभयोः मन्त्रयोः देवता मरुदस्ति। एवम् अनेकैः प्रमाणैः मनुष्याणां देवत्वं देवतानां च मनुष्यं सिद्धं वर्त्तते।

'तद्दैवतायाः स मन्त्रो भवति' इत्यनुसारं सर्वद्रष्टा परमेश्वरः यस्य यस्यार्थस्य यैः यैः नामभिः उपदेशः कृतः, तेन तेन नाम्ना स कीर्त्यते। यथा - 'अग्निमीडे पुरोहितम्' इत्यादिमन्त्रे ईश्वरेण स्वस्य विदुषो वा वर्णनं करोति, अतः एष मन्त्रः आग्नेयः अग्निवाचको वा कथ्यते। अत्र वेदभाष्ये उपयोगिताऽस्ति। दुर्गाचार्यस्य कथनमस्ति - **एतन्मन्त्रे देवतालक्षणम्।** एतेन लक्षणेन सर्वदेवतोपलक्ष्या। महाभारते[१२] उक्तम् - **स्तुत्यर्थमिहदेवानां वेदाः सृष्टाः स्वयंभुवा** वेदेषु स्तुतेरसाधारणं वर्णनं लभते। देवानां देवः महादेवः ईश्वरोऽस्ति, यस्य स्तुतिरपि वेदेऽनायासेन वर्त्तते। अतः शारीरकसूत्रे[१३] उक्तम् - **तत्तु समन्वयात्**। **तस्य ब्रह्मणः सम्पूर्णश्रुतिवादिषु समन्वयोऽस्ति**। सर्वानुक्रमण्यामुक्तम् - 'या तेनोच्यते

[१२]शान्तिपर्व ३३७.५०

[१३]शारीरकसूत्रम् १.१.४

सा देवता' एतेषु त्रिषु पदेषु 'या' वस्तुकृते वर्त्तते, 'तेन' मन्त्रं प्रति सङ्केतयति। 'उच्यते' च क्रियापदं वर्त्तते। एतैः त्रिभिः अर्थः सम्पद्यते। यद्वस्तु स मन्त्रं कथयति, अर्थात् यस्य वस्तुनः वर्णनं करोति, तद्वस्तुत्वम् एव तस्य देवताऽस्ति।

छन्दः मन्त्रः निगमः तथा श्रुतिः इति सर्वं पर्यायवाचनकम् परन्तु भिन्नप्रकारानुसारं भिन्नोऽर्थोऽपि गृह्यते। यथा - **छन्दसि लुङ्लङ्लिटः**[१४] तथा **वा षपूर्वस्य निगमे**[१५] एतेषु पाणिनिसूत्रेषु छन्दः निगमश्च पर्यायः। आप्टे स्वकोशे लिखति- 'छन्दस्'= छन्द्+असुन् = वेद, **बहुलं छन्दसि**[१६] वेदवाक्यम्। छन्दः शब्दः 'छदि संवरणे' धातुना निष्पद्यते। शतपथब्राह्मणे वेदाः छन्दनाम्ना उच्यमानाः छन्दशब्दस्य व्युत्पत्तिः कृता -

'यदेभिरात्मानमाच्छादयन् देवा मृत्योर्बिभ्यतः तच्छन्दसां छन्दत्वम्' अर्थात् देवैः (विद्वद्भिः) मृत्योः भीत्वा वेदैः आत्मनः आच्छादिताः, अतः वेदः छन्दः उच्यते। ऋक्सर्वानुक्रमण्यां[१७] छन्दशास्त्रविषये उक्तम् - **यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः** एतया आर्षपरम्परया यत्र भिन्नानामक्षराणां निश्चितसंख्या तच्छन्दः। सृष्टेः आदिकालादेव वाण्याः व्यवहारः द्विधा - गद्यमयः पद्यमयस्तथा। यत्र गणित्वा केचन स्वरव्यञ्जना वा भवेयुः तत्पद्यम्। यत्र च एवं बन्धनं नास्ति तद्गद्यम्। पद्ये येषां निश्चितवाक्यानां प्रयोगः भवति तान् अत्र अक्षरगणनानुसारं श्लोकं वृत्तं वा कथयन्ति। छन्दज्ञातृषु पिङ्गलाचार्यः अतिप्रसिध्यति। यः

---

[१४] अष्टाध्यायी ३.४.६

[१५] अष्टा. ६.४.९

[१६] अष्टा. २.४.७३

[१७] ऋक्सर्वानुक्रमणी २.६

महावैयाकरणपाणिनेः अनुज इत्युच्यते। तन्नाम्ना एव छन्दशास्त्रं पिङ्गलशास्त्रम् इत्युच्यते। छन्दसां गणना सप्तस्वरानुपातं सप्तैव सन्ति। कानिचिदन्यान्यपि छन्दांसि सन्ति किन्तु तानि एतेष्वेवान्तर्भावं गच्छन्ति। वैदिकवाङ्मयः यत्र ज्ञानमयः कर्ममयः यज्ञमयः उपदेशमयश्चास्ति तत्र सृष्टिरचनादृष्ट्या छन्दोमयोऽप्यस्ति। वेदानां वाक्यार्थबोधाय छन्दोज्ञानावश्यकतायाः विषये कात्यायनेन सर्वानुक्रमण्यामुक्तम् -

मन्त्राणामार्षेयश्छन्दो दैवतविद् याजनाद्यापनाभ्यां श्रेयोऽधिगच्छतीति, अर्थात् छन्दोज्ञानेन वेदार्थज्ञाने प्रौढता आयाति, यतोहि वाक्यार्थबोधे एतत् सहायकं वर्त्तते।

वेदानां यथार्थज्ञानप्राप्त्यै व्याकरणादिवेदाङ्गसदृशमेव छन्दशास्त्रस्याध्ययनमपि अनिवार्यमस्ति। अतः 'छन्दः पादौ तु वेदस्य' इति प्रतिपाद्य छन्दः पादस्थानीयमुच्यते। यथा लोके पादौ विना मनुष्यस्य गतिर्नास्ति तथैव छन्दज्ञानं विना अपहार्यं नैव अपितु काव्यशास्त्रेषु निपुणतायै अपि छन्दसां ज्ञानं परमावश्यकम्। मन्त्रस्य सूक्तस्य वा प्रयोगे विनियोगसमये ऋषि-देवता-छन्दसः च उच्चारणमावश्यकमस्ति। यस्य मन्त्रस्य कृते यस्य ऋषेः देवतायाश्च निर्धारणं वर्त्तते तस्य मन्त्रस्य उपयोगितां दृष्ट्वा कथयितुं शक्यते यत् मन्त्रस्य शक्तिः देवतायामेव भवति, ऋषिः तस्य मन्त्रस्य द्रष्टा भवति अतः ऋषेः नामोच्चारणेनैव ऋषेः शक्तिः लभते। छन्दः आधारः अस्ति। मन्त्रशक्तेः आच्छादकः छन्दः भवति यतोहि आच्छादनार्थे छन्दः कथ्यते। अतः मन्त्राणामर्थदृष्ट्या एव नहि अपितु यज्ञादिकर्मणि उपयोगितादृष्ट्या अपि ऋषे-देवता-छन्दसः च स्मरणमावश्यकम्।

प्रकाशक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला, मेरठ- २५०५०१

अणुवाक्: pavamani८६@gmail.com